

श्रमणा

वर्ष ४६]

अक्टूबर-दिसम्बर १९६४

[अंक १०-१२

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अंक १०-१२]

[अक्टूबर-दिसम्बर, १९९५

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक मण्डल
डॉ० अशोक कुमार सिंह
डॉ० शिवप्रसाद
डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

प्रधान सम्पादक

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० मार्ग, करौंदी
पो० आ० — बी० एच० यू०
वाराणसी २२१००५ (उ० प्र०)
दूरभाष : ३११४६२
फैक्स : ०५४२ — ३११४६२

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु० ६०.००
व्यक्तियों के लिए : रु० ५०.००
एक प्रति : रु० १५.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु० १०००.००
व्यक्तियों के लिए : रु० ५००.००

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक सहमत हों।

श्रमण

हिन्दी खण्ड

प्रस्तुत अङ्क में

	पृष्ठ
१. गांधीजी के मित्र और मार्गदर्शक : श्रीमद्राजचन्द्र डॉ० सुरेन्द्र वर्मा	१ — ४
२. भगवान महावीर की निर्वाण तिथि : एक पुनर्विचार डॉ० अरुण प्रताप सिंह	५ — १४
३. तरंगलोला और उसके रचयिता से सम्बन्धित भ्रान्तियों का निवारण पं० विश्वनाथ पाठक	१५ — २३
४. 'सदेशरासक' में पर्यावरण के तत्त्व डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	२४ — २७
५. हारीजगच्छ डॉ० शिवप्रसाद	२८ — ३३
६. समकालीन जैन समाज में नारी डॉ० प्रतिभा जैन	३४ — ४१
७. कालचक्र डॉ० धूपनाथ यादव	४२ — ४३
८. ऐतिहासिक अध्ययन के जैन स्रोत और उनकी प्रामाणिकता : एक अध्ययन असीम कुमार मिश्र	४४ — ५१
९. प्राचीन जैन कथा साहित्य का उद्भव विकास और वसुदेवहिंडी डॉ० (श्रीमती) कमल जैन	५२ — ६३
पुस्तक समीक्षा	६४ — ७१
जैन जगत्	७२ — ७८

गांधीजी के मित्र और मार्गदर्शक : श्रीमद्राजचन्द्र

डॉ. सुरेन्द्र वर्मा*

जैन जीवन-चर्या के साधक, राजचन्द्र रावजीभाई मेहता का जन्म सन् १८६७ में काठियावाड़ के एक छोटे से गाँव ववरिया में हुआ था। उन्हें अपने जीवन के आरम्भिक दिनों में ही धर्म के प्रति लगाव हो गया था। उनके दादा कृष्ण-भक्त थे और पिता भी वैष्णव मत को मानने वाले थे किन्तु उनकी माता जैन परिवार की थीं। राजचन्द्र स्वयं भी बचपन में वैष्णव धर्म की ओर ही आकर्षित हुए थे और अपने दादा की धार्मिक मान्यताओं ने उन्हें काफी प्रभावित किया था, लेकिन बाद में उनका झुकाव धीरे-धीरे जैन धर्म की ओर बढ़ता गया। यद्यपि राजचन्द्र ने औपचारिक शिक्षा किसी स्कूल आदि में नहीं पाई थी लेकिन उन्होंने कई धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। संस्कृत और मागधी साहित्य को समझने में उन्हें कभी कोई कठिनाई नहीं आई। जैन धर्म की कोई भी पुस्तक जो उनके हाथ लग जाती, वे उसका सूक्ष्म अध्ययन करते थे। उन्होंने वेदान्त के ग्रन्थ भी पढ़े थे और भागवत और गीता जैसी धर्म-पुस्तकों का अध्ययन भी किया था। इसके अतिरिक्त कुरान और जेन्दावेस्ता के अनुवादों के माध्यम से वे मुस्लिम और पारसी धर्मों से भी परिचित थे।

राजचन्द्र की स्मृति बहुत तीक्ष्ण और अवधान बहुत विस्तृत था। वे शतावधानी कहलाते थे क्योंकि वे एक ही समय पर सौ बातों पर ध्यान दे सकते थे और उन्हें याद रख सकते थे। राजचन्द्र विवाहित थे और बम्बई के एक प्रसिद्ध जौहरी थे, किन्तु अपने परिवार और व्यापारिक जीवन से उन्हें कोई आसक्ति नहीं थी। उनका एक मात्र लक्ष्य ईश्वरानुभूति था।

राजचन्द्र धार्मिक कविताएँ रचते थे और कई धर्म-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। इनमें उनकी रचित पुस्तक मोक्षमाला सर्वाधिक प्रसिद्ध है। राजचन्द्र की धार्मिक साधना और आत्म-साक्षात्कार के लिए उनका भावावेश उस बिन्दु पर पहुँच गया था कि अन्त में वे एक प्रकार की रहस्यात्मक दीवानगी से ग्रस्त हो गए थे और ईश्वर को हर जगह देखने लगे थे—“हमारा देश हरि है, हमारी जाति हरि है, समय हरि है, शरीर हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है; सभी कुछ हरि और मात्र हरि है।” राजचन्द्र का देहावसान केवल ३३ वर्ष की आयु में ही हो गया था।

राजचन्द्र महात्मा गांधी के समकालीन थे। गांधी के जीवन और चिन्तन को आकार देने में राजचन्द्र का बड़ा योगदान था। वे गांधी जी के मित्र और मार्गदर्शक थे। गांधी जी अपनी आत्मकथा में जिन तीन आधुनिक चिन्तकों का, जिन्होंने उनके जीवन पर अधिकतम आध्यात्मिक प्रभाव डाला, उल्लेख करते हैं, उनमें सर्वप्रथम वे राजचन्द्र का ही नाम लेते हैं।

अन्य दो टॉल्सटॉय और रस्किन हैं। स्पष्ट ही एक विचारक के रूप में गांधीजी ने राजचन्द्र को टॉल्सटॉय और रस्किन जैसे दार्शनिकों की श्रेणी में रखा है। राजचन्द्र से गांधीजी का परिचय १८९१ में हुआ था। इंग्लैण्ड से लौटने पर गांधीजी उनके निकटतम सम्पर्क में आए और उनके गम्भीर शास्त्र-ज्ञान, निर्मलचरित्र और आत्म-दर्शन की उत्कण्ठा से बहुत प्रभावित हुए। राजचन्द्र ने बहुत अवसरों पर धार्मिक और नैतिक उलझनों में गांधीजी का पथ-प्रदर्शन किया। गांधीजी उन्हें आलोचना से 'रायचंद भाई' या 'कवि' कहते थे। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में पूरा एक अध्याय राजचन्द्र के बारे में लिखा है जिसमें स्वयं पर उनके प्रभाव को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार किया है। वे उन्हें एक ऐसा असाधारण व्यक्ति मानते थे जो यद्यपि न तो पूरी तरह से निरासक्त हो सका और न ही मोक्ष प्राप्त कर सका किन्तु जिसमें एक तीर्थङ्कर की सी महानता थी और जो आम आदमी के स्तर से काफी ऊपर था।

जैन धर्म एक निरीश्वरवादी धर्म है। इसमें एक ऐसे ईश्वर की अवधारणा, जिसमें वह सृष्टि का जन्मदाता, पालनकर्ता और विनाशकर्ता के रूप में स्वीकार किया गया है, मान्य नहीं है। ईश्वर के स्थानापन्न यहाँ तीर्थङ्कर हैं जिनकी उपासना की जाती है। किन्तु राजचन्द्र और गांधी, दोनों में ही ईश्वर के लिए एक जीवित आस्था सदैव बनी रही। दोनों ने ही ईश्वर को जगत् का अधिष्ठान माना। फिर क्या जैन तीर्थङ्कर जगत् के अधिष्ठान के प्रति अज्ञानी थे? या वस्तुतः ऐसा कोई अधिष्ठान ही नहीं? या इसे बताया नहीं गया? या लोग इसे समझ नहीं पाए? ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जो जैन धर्मावलम्बी राजचन्द्र को विचलित करते थे। किन्तु वे स्वयं ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्थावान थे — “वह जो है, और जिससे सृष्टि जन्मी है और जिसमें सभी वस्तुओं का 'होना' निहित है और जिसमें उनका अन्ततः विलय हो जाता है” ऐसा अधिष्ठान राजचन्द्र के अनुसार “ईश्वर है, स्वयं हरि है और उसी की उपस्थिति की चाह हम सब अपने हृदय में बार-बार करते हैं।”

गांधीजी का विश्वास था कि सत्य ही ईश्वर है। राजचन्द्र बेशक इन शब्दों में ऐसा नहीं कहते थे। वे इस कथन का अर्थ यह लगाते थे कि धर्म, नीति, राजनीति और (मानवी) व्यवहार, सभी कुछ सत्य से प्रेरित होता है। यदि ऐसा न हो तो संसार कितना वीभत्स और डरावना लगेगा इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। अतः यह कहना कि सत्य संसार का आधार है, यह न तो अतिशयोक्ति है और न ही यह कोई अविश्वसनीय बात है। किन्तु राजचन्द्र, कुल मिलाकर, सत्याधारित जगत् की बजाय ईश्वरावलम्बित जगत् को वरीयता प्रदान करते हैं। भले ही ये दोनों दृष्टिकोण समानार्थी ही क्यों न हों।

राजचन्द्र निस्सन्देह एक जैन विचारक थे किन्तु अन्य धर्मों के लिये उनमें निरादर का भाव नहीं था। वे इसके भी पूरी तरह विरुद्ध थे कि कोई, किसी भी कारण, अपना धर्म परिवर्तन करे। अपने धर्म पर अडिग रहते हुए भी सभी धर्मों की अच्छाई उन्होंने ग्रहण की। कुछ ईसाई मिशनरियों के प्रभाव में आकर गांधीजी एक समय में जब हिन्दू धर्म के प्रति शंकालु होने लगे और मिशनरियों ने उन्हें धर्म-परिवर्तन के लिए उकसाया तो राजचन्द्र से गांधी

का पत्राचार बहुत फलदायी रहा। इससे गांधी का अशान्त मन स्थिर हो सका और वे अपने हिन्दू धर्म के प्रति निश्चिन्त हो सके। हिन्दू धर्म को जानने और समझने की प्रेरणा गांधी को वस्तुतः राजचन्द्र से ही मिली।

‘धर्म’ से राजचन्द्र किसी सम्प्रदाय का अर्थ नहीं लगाते थे। धर्म उनके लिए आत्मा का एक गुण है जो सभी मनुष्यों में चेतन-अचेतन रूप से विद्यमान है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम सर्वप्रथम स्वयं अपने को जानें और आत्मा की यह पहचान धर्म के माध्यम से ही सम्भव है। “दुनिया के विभिन्न धर्म”, राजचन्द्र कहते हैं “केवल भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। इन सबका आधार मूलतः ‘आत्मधर्म’ है। सच्चा धर्म आत्मा के वास्तविक स्वभाव को प्रकाशित करता है।” राजचन्द्र ने जब-जब अपने किसी शिष्य को वेदान्त या जैन धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए कहा तो इसका आशय उसे वेदान्ती या जैन बना देने का कभी नहीं रहा; उनका उद्देश्य तो उसे केवल ज्ञान प्राप्त कराना था। “हमें जैन या वेदान्त का अन्तर भुला देना चाहिए। आत्मा इस तरह की नहीं है” — वे कहते थे।

राजचन्द्र एक विवाहित पुरुष थे और उनके अपने बाल-बच्चे भी थे। लेकिन उन्होंने अपनी सारी शक्ति वैवाहिक जीवन के लिए ही नहीं खपा दी। वे अपनी पत्नी से निष्काम-भक्ति की अपेक्षा रखते थे न कि उन्हें उससे किसी स्वार्थमय प्रेम की लालसा थी। वे धर्म के मार्ग पर उसे अपना साथी बनाना चाहते थे, किन्तु उन्हें इसका भी पूरा अहसास था कि अपेक्षाओं के अनुकूल उनका आचरण नहीं है। इसके लिए उन्होंने अपनी पत्नी को कभी दोष नहीं दिया। कमी स्वयं उन्होंने अपने में ही पाई। गांधीजी ने एक बार वैवाहिक प्रेम की प्रशंसा में राजचन्द्र को पत्र लिखा। प्रत्युत्तर में राजचन्द्र का अपना कहना था कि वह प्रेम जो पति-पत्नी के सम्बन्ध से परे और विमुख होता है उस प्रेम से अधिक अच्छा है जो एक पत्नी का पत्नी के रूप में अपने पति के लिए होता है।

आरम्भ में गांधीजी राजचन्द्र के इस मत से स्वयं को समायोजित नहीं कर सके, बल्कि उन्हें यह बात कुछ निष्ठुर और कठोर सी प्रतीत हुई किन्तु धीरे-धीरे कवि के मत से वे सहमत होने लगे। गांधीजी के लिए एक पत्नीव्रत आदर्श था और पत्नी के प्रति आजीवन निष्ठा सत्य के प्रति प्रेम का एक हिस्सा था। लेकिन कालान्तर में उन्हें ऐसा लगने लगा कि एक पत्नीव्रत का अर्थ यह नहीं है कि पत्नी को अपनी वासना का साधन बनाया जाए। पत्नी के प्रति वास्तविक प्रेम तो उससे कामरहित प्रेम ही है। गांधीजी इस प्रकार अपनी पत्नी के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए ब्रह्मचर्य पालन करने लगे और इस परिवर्तन के लिए बिना किसी हिचक के वे राजचन्द्र की शिक्षा को श्रेय देते थे जिसने उन्हें इस दिशा में प्रेरित किया।

प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि व्यावहारिक जीवन धार्मिक जीवन से बिल्कुल अलग होता है और फिर व्यापार व्यवसाय में तो धर्म को प्रवेश देना केवल मूर्खता है। किन्तु राजचन्द्र ने इस धारणा को पूरी तरह झुठला दिया था। उन्होंने अपनी जीवन-पद्धति से यह सिद्ध कर दिया कि एक धार्मिक व्यक्ति के हर कर्म में धर्म की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल मन्दिरों और गिरिजाघरों तक ही सीमित हो और जिसका पालन किन्हीं विशेष दिनों जैसे, एकादशी या रविवार पर ही किया जाए। ऐसा सोचना वस्तुतः धर्म के मर्म से व्यक्ति की अनभिज्ञता है। राजचन्द्र का हीरे-जवाहरात का एक बड़ा व्यवसाय था और वे इसे बड़ी कुशलता से चलाते थे। फिर भी मानसिक रूप से वे चिन्ता-मुक्त और अविचलित रहते थे। उनका विश्वास था कि यदि व्यक्ति को सम्यक् ज्ञान है तो उसे कभी धोखा नहीं हो सकता। सत्य के सामने असत्य टिक नहीं सकता। अहिंसा के निकट हिंसा स्वतः विलुप्त हो जाती है। बेशक, ऐसा कहना कि राजचन्द्र को धर्म के नाम पर व्यापार में कभी धोखा हुआ ही नहीं, सही नहीं है लेकिन गांधीजी का मानना है कि इससे केवल एक सामान्य नियम की अपूर्णता सिद्ध होती है अन्यथा गांधीजी के अनुसार व्यावहारिक जीवन की कार्यकुशलता और धर्म के प्रति निष्ठा का जो सुन्दर समन्वय हमें राजचन्द्र के जीवन में मिलता है, वह दुर्लभ है।

गांधीजी ने भी राजचन्द्र की ही तरह, बल्कि शायद उनके प्रभाव से ही, धर्म और व्यवहार की खाई पाटने का भरकस प्रयत्न किया। वे राजनीति में धर्म का प्रवेश चाहते थे। सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक कार्यों को धर्म से विलग नहीं किया जा सकता। धर्म से अलग राजनीति एक ऐसा जाल है जिसमें व्यक्ति छटपटाता है। इस जाल को केवल धर्म काट सकता है।

राजचन्द्र की जगत् के अधिष्ठान के रूप में ईश्वर की अवधारणा, उनका सभी धर्मों के प्रति समान रूप से सम्मान भाव, अपनी पत्नी के सन्दर्भ में भी ब्रह्मचर्य का पालन तथा 'व्यावहारिक' और 'धार्मिक' के मध्य उनका समन्वय का प्रयास — कुछ ऐसे आचार-विचार हैं जिन्हें गांधीजी ने भी पूरी निष्ठा से अपने जीवन में उतारा।

* प्रोफेसर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
करौंदी, वाराणसी



भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि : एक पुनर्विचार

डॉ. अरुण प्रताप सिंह*

भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि अर्थात् मृत्यु-तिथि पर विचार करना अपने आपको विवादों के घेरे में फँसा देना है। हजारों वर्षों से सैकड़ों पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इस पर अपनी लेखनी चलायी है। यह इतना विवादास्पद प्रश्न है जिस पर एक मत होना असम्भव-सा है। प्रायः सभी विद्वानों ने एक दूसरे के मत को काटकर अपने तर्क को स्थापित करने का प्रयास किया है। अभी हाल में मैं पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी से प्रकाशित सागर जैन विद्या-भारती, भाग प्रथम के अन्तिम लेख “भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि पर पुनर्विचार” को पढ़ रहा था। यह लेख जैन-विद्या के आधुनिक विद्वानों में मधून्य एवं मेरे गुरु डॉ० सागरमल जी द्वारा लिखित है। विद्वान लेखक ने विभिन्न मतों की समालोचना करते हुए महावीर की निर्वाण-तिथि को ४६७ ई० में रखने का आग्रह किया है। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मेरा इस विषय पर जिज्ञासु होना सहज एवं स्वाभाविक है। उनके मत का पूरा सम्मान करते हुए इस सन्दर्भ में मैं अपने कुछ भिन्न विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ। यह लेख इसी उद्देश्य से प्रेरित है।

महावीर की निर्वाण-तिथि ज्ञात करने के लिए हमें कई पक्षों पर विचार करना होगा। छठी शताब्दी ईसा पूर्व का भारत अपने दो ऐतिहासिक महापुरुषों के लिए सुविख्यात है, ये हैं — महावीर एवं बुद्ध। इनकी समकालिकता असंदिग्ध है। महावीर की निर्वाण-तिथि ज्ञात करने के लिये बुद्ध की भी निर्वाण-तिथि ज्ञात करनी होगी। इस सन्दर्भ में विदेशी साक्ष्यों तथा महावीर एवं बुद्ध के समकालीन भारतीय नरेशों के काल को भी ध्यान में रखना होगा तथा उनके समसामयिक तादात्म्य को स्थापित करना होगा। इन सभी साक्ष्यों का आलोचन करने के उपरान्त ही हम एक निर्णायक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

जैन एवं बौद्ध-परम्परा के साहित्य में तिथि के सम्बन्ध में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ बौद्ध परम्परा का दीर्घनिकाय है। यह ग्रन्थ महावीर एवं बुद्ध की समकालिकता को तो स्पष्ट करता ही है, साथ ही साथ इन दोनों महापुरुषों के सान्निध्य में रहने वाले मगध सम्राट अजातशत्रु (कुणिक) का भी परिचय प्रदान करता है। दीर्घनिकाय से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु के राज्यकाल में ही महावीर एवं बुद्ध दोनों निर्वाण को प्राप्त हुए। अजातशत्रु के राज्याभिषेक के ८वें वर्ष में बुद्ध का एवं २२वें वर्ष में महावीर का निर्वाण हुआ। बौद्ध साहित्य के अनुसार बुद्ध ८० वर्ष की आयु में तथा जैन स्रोत के अनुसार महावीर ७२ वर्ष की आयु में मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्राचीनतम स्रोत के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है,

वह यह है कि अजातशत्रु के राज्याभिषेक के समय महावीर ५० वर्ष के एवं बुद्ध ७२ वर्ष के रहे होंगे तथा बुद्ध की मृत्यु के समय महावीर की आयु ५८ वर्ष रही होगी तथा इसके १४ वर्ष उपरान्त स्वयं महावीर की मृत्यु हुई।

दीघनिकाय के उपर्युक्त ऐतिहासिक साक्ष्य के अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में ही एक विपरीत सन्दर्भ भी प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि महावीर की मृत्यु बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गई थी। **दीघनिकाय** के अनुसार एक बार बुद्ध जब शाक्यों के आप्रवण-प्रासाद में विहार कर रहे थे तो महावीर की मृत्यु के उपरान्त निर्ग्रन्थों के पारस्परिक मतभेद एवं वाक्कुलह की सूचना उनके पास पहुँची थी^२।

दीघनिकाय का यह सन्दर्भ हमें असमंजस में डाल देता है। “हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर त्रिपिटक साहित्य में महावीर को अषेड़वय का कहा गया है, वहीं दूसरी ओर बुद्ध के जीवनकाल में उनके स्वर्गवास की सूचना भी है। इतना निश्चित है कि दोनों बातें एक साथ सत्य सिद्ध नहीं हो सकतीं। मुनि कल्याणविजयजी आदि ने बुद्ध के जीवन काल में महावीर के निर्वाण-सम्बन्धी अवधारणा को भ्रान्त बताया है; उन्होंने महावीर के काल-कवलित होने की घटना को उनकी वास्तविक मृत्यु न मानकर, उनकी मृत्यु का प्रवाद माना है। जैन आगमों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके निर्वाण के लगभग १६ वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु का प्रवाद फैल गया था जिसे सुनकर अनेक जैनश्रमण भी अश्रुपात करने लगे थे। चूँकि इस प्रवाद के साथ महावीर के पूर्व शिष्य मंखलिगोशाल और महावीर एवं उनके अन्य श्रमण शिष्यों के बीच हुए कटु-विवाद की घटना जुड़ी हुई थी। अतः **दीघनिकाय** का प्रस्तुत प्रसंग इन दोनों घटनाओं का एक मिश्रित रूप है। अतः बुद्ध के जीवन-काल में महावीर की मृत्यु के **दीघनिकाय** के उल्लेख को उनकी वास्तविक मृत्यु का उल्लेख न मानकर गोशालक के द्वारा विवाद के पश्चात् फेंकी गई तेजोलेश्या से उत्पन्न दाह-ज्वर-जन्य तीव्र बीमारी के फलस्वरूप फैले उनकी मृत्यु के प्रवाद का उल्लेख मानना होगा^३।

उपर्युक्त तर्क के आलोक में हम इस ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अजातशत्रु के राज्याभिषेक के ८वें वर्ष में बुद्ध की एवं उसके १४ वर्ष बाद स्वयं महावीर की मृत्यु हुई। अजातशत्रु के राज्याभिषेक-वर्ष को निश्चित करने के लिए हमारे पास कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासकार राधाकुमुद मुकर्जी ने बिम्बिसार के राज्यकाल को ५४४ ईसा पूर्व से ४९३ ई० पूर्व तक तथा अजातशत्रु के राज्यकाल को ४९३ ई० पूर्व से ४६२ ई० पूर्व में रखा है^४ परन्तु उनकी यह एक सम्भावना मात्र है, इसका कोई ठोस आधार नहीं। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय धर्म के प्रणेता के रूप में बुद्ध की निर्वाण-तिथि पर विचार किया जा सकता है — यद्यपि इस पर विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं। बुद्ध के सम्बन्ध में भारतीय साक्ष्यों के अतिरिक्त विदेशी साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। विदेशी साक्ष्यों में चीन के डॉटेड रिकार्ड (Dotted Record) एवं सिंहल (श्रीलंका) के **दीपवंस** एवं **महावंस** ग्रन्थ सबसे प्रमुख हैं। चीन के डॉटेड रिकार्ड के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि कैण्टन में एक पट्टिका

(Record) पर बुद्ध की मृत्यु के वर्ष से लेकर प्रत्येक वर्ष के व्यतीत होने पर एक बिन्दु (Dot) बढ़ा दिया जाता था और इस प्रकार बुद्ध की मृत्यु-तिथि को याद किया जाता था। यह परम्परा कैण्टन में ४८९ ईस्वी तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। ४८९ ई० तक इस पर ९७५ बिन्दु अंकित हो चुके थे। इस पद्धति से बुद्ध का निर्वाण-वर्ष ९७५ - ४८९ = अर्थात् ४८६ ई० पूर्व ठहरता है।

इस पद्धति से गणना करना अपने आप में वैज्ञानिक प्रतीत होता है परन्तु इसमें इतनी अधिक विसंगतियाँ हैं जिन्हें स्वीकारा नहीं जा सकता। प्रथम तो यह कि बुद्ध की मृत्यु का समाचार चीन में किस माध्यम से और कितने वर्षों बाद पहुँचा। बुद्ध के जीवन-काल में अथवा उनकी मृत्यु के ५०-१०० वर्षों तक भी उनके विचार चीन तक पहुँच गये थे — इसमें सन्देह है। बुद्ध के लगभग दो शताब्दी बाद होने वाले मौर्य सम्राट अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हुआ। अशोक ने सुनियोजित रूप से भारत के बाहर बौद्ध धर्म के सन्देश को पहुँचाया। इसका समर्थन उसके द्वितीय एवं तेरहवें शिलालेख से होता है। इतने वर्षों बाद बुद्ध की मृत्यु को बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित करने की प्रक्रिया कुछ अस्वाभाविक सी लगती है। इसके अतिरिक्त बुद्ध की मृत्यु से लेकर ४८९ ईस्वी तक अर्थात् लगभग १००० वर्षों के काल में चीन में इतने अधिक राजनीतिक परिवर्तन हुए कि बिन्दु को रखने की परम्परा अविच्छिन्न रही होगी — इसमें सन्देह है। जबकि यह सत्य है कि प्रारम्भिक चीन सम्राटों ने बौद्ध धर्म के प्रति वही विद्वेषात्मक रुख अपनाया था जो हिन्दू जाति के सम्राटों ने ईसाई धर्म के विरुद्ध अपनाया था। अतः यह मत सन्देहास्पद है और इसके आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता।

बुद्ध के निर्वाण से सम्बन्धित दूसरा महत्वपूर्ण विदेशी साक्ष्य सिंहल के दीपवंस एवं महावंस ग्रन्थ हैं। इसके अनुसार बुद्ध की मृत्यु के २१८ वर्ष उपरान्त देवानापिय प्रियदर्शी अशोक का राज्याभिषेक हुआ। अब हमें भारत के इस महानतम सम्राट के राज्याभिषेक की तिथि को ज्ञात करने का प्रयत्न करना होगा। यह एक सरल कार्य नहीं है अपितु विवादों से भरा है।

मौर्यवंश का यह सपूत इस मामले में सौभाग्यशाली है कि इसके सम्बन्ध में कुछ विदेशी साक्ष्य अकाट्य रूप से प्रस्तुत हैं। अशोक ने अपने अभिलेखों में कुछ नरेशों का उल्लेख किया है जिनके राज्य में उसने अपने दूत भेजे थे। इन यवन नरेशों की ऐतिहासिक पहचान हो चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन नरेशों के शासन-काल के समय अशोक वर्तमान था और इसमें केवल २-४ वर्षों का ही हेर-फेर सम्भव है। इतिहास के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान हेमचन्द्र राय चौधरी ने अशोक के राज्यारोहण की तिथि के सम्बन्ध में विभिन्न पक्षों की चर्चा करते हुए यह निश्चित किया है कि अशोक का राज्याभिषेक २७७ ई० पूर्व से २७० ई० पूर्व के मध्य हुआ।

इस सर्वमान्य इतिहासकार ने अशोक के राज्याभिषेक की तिथि को २७७ ई० पूर्व

में रखने का विशेष आग्रह किया है। अशोक ने जिस विशाल भू-भाग पर शासन किया, वह अधिकांश में उसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य की देन थी। चन्द्रगुप्त के संघर्ष-काल में ही भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ जिसकी तिथि सर्वथा निश्चित है। यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क और जस्टिन दोनों ने सिकन्दर के साथ चन्द्रगुप्त के भेंट का उल्लेख किया है। यह भेंट ३२६ ई० पूर्व हुई जो सिकन्दर के अवसान एवं इसके तुरन्त पश्चात् भारत से प्रस्थान एवं चन्द्रगुप्त के उत्थान का काल है। चन्द्रगुप्त ने एक राजा के रूप में या एक विद्रोही सैनिक के रूप में सिकन्दर से भेंट की थी कहना कठिन है। यद्यपि विश्वविजयी सिकन्दर से किसी विद्रोही सैनिक का मिलना सम्भव नहीं प्रतीत होता। अतः यह निश्चित सा जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने को राजा घोषित कर (भले ही किसी छोटे प्रदेश का) सिकन्दर से भेंट की और उससे एक राजा की तरह मिला। जैसा कि बाद की घटनाओं से स्पष्ट है कि सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त की स्वाभिमान भरी बातें सुनकर उसे दण्ड देने की-कोशिश की। चन्द्रगुप्त किसी प्रकार वहाँ से अपने को बचा सका। इससे यह ध्वनित होता है कि ३२६ ई० पूर्व या उसके आस-पास ही चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक हुआ और उसके कुछ वर्ष उपरान्त परिस्थितियों को अपने वश में कर ३२२-३२१ ई० पू० में वह स्थायी रूप से मगध की गद्दी पर बैठा। जैन, बौद्ध एवं विदेशी साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष और उसके पुत्र अशोक के पिता बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार अशोक का राज्याभिषेक $३२६-२४-२५ = २७७$ ई० पूर्व में होना सिद्ध होता है^६।

बौद्ध एवं यूनानी साक्ष्यों से प्रमाणित २७७ ई० पू० में यदि हम अशोक का राज्याभिषेक होना स्वीकार करते हैं तो सिंहली ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण २७७ + २१८ = ४९५ ई० पू० में होना सिद्ध होता है। चूँकि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के १४ वर्ष बाद हुआ अतः महावीर का निर्वाण $४९५ - १४ = ४८१$ ई० पू० में होना निश्चित होता है।

अब हम जैन साहित्य के अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर महावीर की उपर्युक्त निर्वाण-तिथि (४८१ ई० पू०) को परखने का प्रयास करेंगे।

महावीर के निर्वाण और चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जैन परम्परा में दो मत हैं। एक मत के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक वीर निर्वाण संवत् २१५ में हुआ^७ तथा दूसरे मत के अनुसार वीर निर्वाण के १५५ वर्ष बाद^८। प्रथम मत **तित्योगाली** प्रकीर्णक का है जो एक बाद की रचना है। इसके आधार पर यदि हम २१५वें वर्ष में चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक को स्वीकार करें तो महावीर का जीवन-काल इतना प्राचीन हो जाता है कि उस पर कोई भी इतिहासकार सहमत नहीं होगा। दूसरे मत के प्रतिष्ठापक जैन आचार्य हेमचन्द्र हैं जिनकी कृतियाँ जैन धर्म की आधार-स्तम्भ हैं। आचार्य हेमचन्द्र के मत को स्वीकार करने पर महावीर की निर्वाण-तिथि $३२६ + १५५ = ४८१$ ई० पू० निश्चित होती है। यह तिथि यूनानी एवं बौद्ध साक्ष्य से एकदम सटीक बैठती है। अस्तु जैन, बौद्ध एवं

यूनानी साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि महावीर का निर्वाण ४८१ ई० पू० में पावा में हुआ।

अधिकांश लेखकों ने यह तो स्वीकार किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर निर्वाण सं० १५५वें वर्ष में गद्दी पर बैठा। यदि हम महावीर की निर्वाण-तिथि के ५२७ ई० पू० या ४६७ ई० पू० मानें तो सम्पूर्ण ऐतिहासिक सामञ्जस्य डाँवाडोल हो जाता है। ५२७ ई० पू० मानने पर चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण को ५२७ — १५५ = ३७२ ई० पू० तथा ४६७ ई० पू० मानने पर उसके राज्यारोहण को ४६७ — १५५ = ३२१ ई० पू० मानना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार नहीं हो सकतीं। दोनों ही स्थितियों में सिकन्दर से चन्द्रगुप्त के मिलने का ऐतिहासिक सन्दर्भ निरर्थक सा हो जाता है। प्रथम स्थिति मानें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तक अभी सिकन्दर का जन्म ही नहीं हुआ था और दूसरी स्थिति मानें तो उसकी ऐतिहासिक मृत्यु को ही झुठलाना होगा। यह सर्वथा निश्चित है कि ३१२ ई० पू० के बहुत पहले ही भारत से अपने देश लौटते हुए लगभग ३२३ ई० पू० में बेबीलोन में उसकी मृत्यु हो गई। सिकन्दर सितम्बर ३२५ ई० पू० में ही भारत की सीमा को छोड़ चुका था। सिकन्दर के आक्रमण के समय पूरी घटना से परिचित यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के ऐतिहासिक भेंट को अस्वीकार करना सत्य को अस्वीकार करना होगा। इस सन्दर्भ के आधार पर देखें तो चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के १५५ वर्ष पहले अर्थात् १५५ + ३२६ = ४८१ ई० पू० में महावीर की निर्वाण तिथि सिद्ध होती है।

महावीर की निर्वाण-तिथि के सम्बन्ध में जैन पट्टावलियों का विशेष महत्त्व है। इन पट्टावलियों में जैन मुनियों की आचार्य-परम्परा का उल्लेख रहता है। इसके साथ ही कभी-कभी तत्कालीन नरेशों के साथ उनके सम्बन्धों का भी वर्णन रहता है। फलस्वरूप ये पट्टावलियाँ जो विशुद्ध धार्मिक हैं, ऐतिहासिक तिथि-निर्णय में सहायक सिद्ध होती हैं। महावीर की निर्वाण-तिथि (४८१ ई० पू०) को पट्टावलियों के माध्यम से भी जाँचा-परखा जा सकता है।

जनश्रुतियों एवं कालान्तर के जैन स्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने अन्तिम दिनों में जैन धर्मावलम्बी हो गया था और उसके प्रगाढ़ सम्बन्ध जैन आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र से थे। ये दोनों आचार्य उसके समसामयिक थे। जैन पट्टावलियों से ज्ञात होता है कि आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण संवत् १५६ से १७० तक आचार्य रहे। यदि हम **तित्थोगालिपइन्नयं** के आधार पर चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण २१५ वीर निर्वाण संवत् मानें तो भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की समसामयिकता सिद्ध नहीं हो पाती — अतः यह मत अस्वीकार करने योग्य है। हमें आचार्य हेमचन्द्र के मत को ही मानना होगा कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण वीर निर्वाण संवत् १५५ में अर्थात् ४८१ — १५५ = ३२६ ई० पू० में हुआ। आचार्य भद्रबाहु ३२५ ई० पू० से लेकर ३११ ई० पू० तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे और चन्द्रगुप्त का

राज्यकाल २४ वर्ष अर्थात् ३२६ से लेकर ३०२ ई० पू० तक रहा — इससे दोनों की समसामयिकता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य भद्रबाहु के समान आचार्य स्थूलभद्र भी चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। पट्टावलियों के अनुसार स्थूलभद्र की दीक्षा वीर निर्वाण सं० १४६ में तथा स्वर्गवास वीर निर्वाण संवत् २१५ में हुआ। यह तिथि ३३५ ई० पू० से २६६ ई० पू० सिद्ध होती है। अर्थात् आचार्य स्थूलभद्र चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के पूर्व ही दीक्षा ले चुके थे। इस आधार पर उनका नन्द सम्राटों के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है जिसकी ओर **तित्थोगाली** प्रकीर्णक में संकेत है। महावीर का निर्वाण संवत् ४८१ ई० पू० मानने पर चन्द्रगुप्त मौर्य का अपने समकालीन आचार्यों भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार पट्टावलियों में आचार्य सुहस्ति और मौर्य सम्राट सम्प्रति की समकालिकता मानी गयी है। आचार्य सुहस्ति का युगप्रधान आचार्य-काल वीर निर्वाण संवत् २१५ से २९१ तक माना गया है। महावीर की निर्वाण-तिथि ४८१ ई० पू० मानने पर यह २३६ से १९० ई० पू० निश्चित होती है। मौर्य नरेश सम्प्रति के राज्यकाल का वर्ष निश्चित नहीं है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि अशोक के बाद कौन राजा बना और कितने वर्ष तक राज्य किया। अशोक के अभिलेखों में तीवर का नाम आता है परन्तु अन्य स्रोतों से वह अज्ञात है। उसके पौत्र दशरथ के कुछ अभिलेख नागार्जुन पहाड़ियों की गुफाओं से प्राप्त हुए जिनमें वह आजीवकों को दान देते हुए प्रदर्शित है। साहित्यिक साक्ष्य अशोक के तीन पुत्रों — महेन्द्र, कुणाल और जालौक का उल्लेख करते हैं। वायु पुराण के अनुसार कुणाल ने आठ वर्ष राज्य किया। **मत्स्य-पुराण** में अशोक के उत्तराधिकारियों में दशरथ, सम्प्रति, शतधन्वा और बृहद्रथ का उल्लेख है। अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सम्प्रति ने कब और कितने वर्ष तक राज्य किया। प्रायः सभी साक्ष्य मौर्य वंश के अन्तिम नरेश के रूप में बृहद्रथ का नामोल्लेख करते हैं। जिसकी १८७ ई० पू० में हत्या कर दी गई। यह निश्चित है कि इसके पूर्व ही सम्प्रति का राज्यकाल रहा होगा। अतः इसकी अत्यधिक सम्भावना है कि आचार्य सुहस्ति जो २३६ से १९० ई० पू० तक युग प्रधान आचार्य रहे, निश्चित रूप से सम्प्रति के समकालीन रहे होंगे।

उपर्युक्त तर्कों के आलोक में जैन पट्टावलियों से भी महावीर के निर्वाण-काल को ४८१ ई० पू० मानने पर कोई व्यवधान नहीं पड़ता और चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र की तथा सम्प्रति एवं सुहस्ति की समकालिकता सिद्ध हो जाती है।

अपने विद्वत्तापूर्ण लेख “भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि पर पुनर्विचार” में प्रोफेसर सागरमल जैन ने पट्टावलियों तथा **कल्पसूत्र** एवं **नन्दीसूत्र** की स्थविरावलियों में उल्लिखित आचार्यों के काल पर विचार किया है। लेखक ने मथुरा के अभिलेख में प्राप्त पाँच नामों को अपना आधार बनाया है। आर्य मंगु, आर्य नन्दिल एवं आर्य हस्ति का उल्लेख **नन्दीसूत्र** की स्थविरावली में तथा आर्य कृष्ण और आर्य वृद्ध का नाम **कल्पसूत्र** की स्थविरा-

वली में प्राप्त होता है। विद्वान लेखक ने वीर निर्वाण ५२७ ई० पू० तथा ४६७ ई० पू० दोनों तिथियों को मानकर उनमें सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है परन्तु वह कहीं से भी सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। डॉ० जैन स्वयं सन्तुष्ट नहीं हैं। पट्टावलियों के अनुसार आर्य मंगु का युग-प्रधान आचार्य-काल वीर निर्वाण संवत् ४५१ से ४७० तक माना गया है। वीर निर्वाण ई० पू० ४६७ मानने पर इनका काल ई० पू० १६ से ई० सन् ३ तक और वीर निर्वाण ई० पू० ५२७ मानने पर इनका काल ई० पू० ७६ से ई० पू० ५७ आता है। जबकि अभिलेखीय आधार पर इनका काल शक सं० ५२ (हुविष्क वर्ष ५२) अर्थात् ई० सन् १३० आता है अर्थात् इनके पट्टावली और अभिलेख के काल में वीर निर्वाण ई० पू० ५२७ मानने पर लगभग २०० वर्षों का अन्तर आता है और वीर निर्वाण ई० पू० ४६७ मानने पर भी लगभग १२७ वर्ष का अन्तर तो बना ही रहता है। अनेक पट्टावलियों में आर्य मंगु का उल्लेख भी नहीं है। अतः उनके काल के सम्बन्ध में पट्टावलीगत अवधारणा प्रामाणिक नहीं है। इस प्रकार आर्य मंगु के अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाण-काल का निर्धारण सम्भव नहीं है क्योंकि इस आधार पर ई० पू० ५२७ की परम्परागत मान्यता एवं ई० पू० ४६७ की विद्वन्मान्य मान्यता दोनों ही सत्य सिद्ध नहीं होती है^{११}। डॉ० जैन ने आर्य मंगु के समान ही आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ति, आर्य कृष्ण एवं आर्य वृद्ध की तिथियों पर विचार किया है^{१२} परन्तु कहीं पर भी अभिलेखीय एवं पट्टावली मान्य साक्ष्य में संगति नहीं बैठ पायी है। वास्तव में इन पट्टावलियों के आधार पर कोई निर्णय लिया भी नहीं जा सकता क्योंकि एक तो ये काफी बाद में संकलित की गईं और अधिकांशतः कल्पना-प्रसूत हैं।

अब हम अन्त में श्वेताम्बर परम्परा के **तित्थोगाली** तथा दिगम्बर परम्परा के **तिलोयपण्णत्ति** नामक ग्रन्थों में वर्णित इस तथ्य की विवेचना करेंगे कि वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ माह पश्चात् शक नरेश हुआ^{१३}। और दोनों परम्पराओं के इस सामान्य निष्कर्ष की समालोचना कर किसी निर्णायक बिन्दु पर पहुँचने का प्रयास करेंगे। इन ग्रन्थों में इस तिथि के अतिरिक्त और भी तिथियाँ दी गई हैं किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है।

विद्वानों ने इस परम्परागत मान्यता के आधार पर महावीर का निर्वाण ६०५ — ७८ = ५२७ ई० पू० स्वीकार किया है। मैं विद्वानों का ध्यान एक ऐतिहासिक भूल की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। इन दोनों ग्रन्थों में शक सम्वत् का नहीं अपितु शक नरेश के होने का उल्लेख है। **तिलोयपण्णत्ति** में 'सगणिओं अहवा'^{१४} तथा **तित्थोगाली** में 'सगोराया' वर्णित है^{१५} जबकि प्रायः सभी विद्वानों ने इसको शक संवत् ७८ मानकर अपनी मान्यता की पुष्टि की है।

ये दोनों ग्रन्थ किस शक नरेश का उल्लेख करते हैं — इस पर विचार करना होगा। छठी-सातवीं शताब्दी में निर्मित होने वाले भिन्न परम्पराओं के इन दोनों ग्रन्थों के विद्वान लेखकों को यह तो स्पष्ट पता होगा कि जिस शक नरेश की वे बात कर रहे हैं वह कनिष्क तो नहीं ही होगा। कनिष्क जिसे शक संवत् का संस्थापक माना जाता है निश्चितरूपेण शक

नहीं था। वह कुषाणवंशीय नरेश था और इस वंश के नरेशों की उपस्थिति के संकेत चतुर्थ शताब्दी ईस्वी तक प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि की उपाधि धारण करने वाले कुषाणों को उत्तर कुषाण या किदार कुषाण कहा गया है। ये कुषाण सर्वकरदान अर्थात् सभी प्रकार के करों को देने वाले के रूप में उल्लिखित हैं। दो-तीन शताब्दियों के अन्तराल में ही जैन विद्वानों ने कुषाणों को शक मान लिया होगा — सहज विश्वास नहीं होता। जबकि शकों की प्रभावशाली सत्ता कुषाणों के उपरान्त भी बनी रहती है। पाँचवीं शताब्दी में समुद्रगुप्त के महत्वाकांक्षी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को शकों को हराने के कारण ही शकारि की उपाधि दी गयी। अतः यह निश्चित है जैन आचार्य वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् जिस शक नरेश के होने का उल्लेख कर रहे हैं, वह कनिष्क तो नहीं ही है और न उसका तात्पर्य ७८ ई० सन् से प्रारम्भ होने वाले शक सम्वत् से ही है। फिर यह शक नरेश कौन है ? यदि इतिहास के पन्नों को पलटें तो हम शकों की कई जातियों को भारत पर राज्य करते हुए पाते हैं। इनमें कार्दमक और क्षहरात वंश के शक अत्यन्त प्रभावशाली थे। कार्दमक वंश के रुद्रदामन एवं क्षहरात वंश के नहपान ने भारत के एक विशाल भूभाग पर शासन किया था। जूनागढ़ अभिलेख से रुद्रदामन का काल १३० से १५० ई० सन् के मध्य पड़ता है। इसी प्रकार जोगलथम्भी मुद्रा भण्डारों से नहपान का समय भी १२४-२५ ई० के लगभग निश्चित होता है। नहपान का साम्राज्य उत्तर में राजस्थान से लेकर दक्षिण में नासिक तक विस्तृत था। उसके साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिमी भूभाग पर उसका दामाद ऋषभदत्त शासन कर रहा था। ऋषभदत्त जो नहपान की पुत्री दक्षमित्रा का पति था, अत्यन्त धार्मिक विचारों वाला व्यक्ति था। उसके द्वारा दिये गये पवित्र दानों के उल्लेख हमें कार्ले (जिला पूना, महाराष्ट्र) एवं नासिक के गुहा लेखों से प्राप्त होते हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है वह निश्चय ही जैनधर्म से प्रभावित जैन श्रावक रहा होगा। वह न केवल अपने साम्राज्य में अपितु साम्राज्य के बाहर भी पवित्र-स्थलों के दर्शन हेतु तीर्थयात्रा पर जाया करता था^६। यदि हम महावीर की निर्वाण-तिथि ४८१ ई० पू० मानते हैं तो **तित्योगाली** एवं **तिलोयपण्णत्ति** में वर्णित ६०५ वर्ष और ५ माह की तिथि १२४-२५ ई० सन् पड़ती है और यही काल शक नरेश ऋषभदत्त का है। मेरी दृष्टि में जैन आचार्य जिस शक नरेश का उल्लेख कर रहे हैं, वह और कोई नहीं बल्कि शक नरेश ऋषभदत्त ही है। ऋषभदत्त ने जैन आचार्यों को निश्चय ही विशेष सुविधा प्रदान की होगी। इसके बारे में प्रामाणिक साक्ष्यों का अभाव है, फिर भी इसकी जैनधर्म से प्रभावित होने की सम्भावना अत्यधिक प्रबल है।

मौर्यों के पतन एवं गुप्तों के उदय के पूर्व के काल को इतिहासकारों ने अन्धकार-युग (Dark-Age) के नाम से पुकारा है। इस काल में भारत पर विदेशी आक्रमणों की बाढ़ सी आ जाती है। यवनों-शकों-कुषाणों के निरन्तर आक्रमण की सूचना हमें प्राप्त होती है। परन्तु यदि यह आक्रान्ताओं का काल है तो हमें स्वीकार करने में यह संकोच नहीं करना चाहिए कि यह भारतीय संस्कृति के समृद्धि का भी काल है। दो-तीन शताब्दियों के भीतर ही

इन विदेशी आक्रान्ताओं का भारतीयकरण प्रारम्भ हो जाता है और गुप्तकाल आते-आते इनका भारतीयकरण प्रायः पूर्ण हो जाता है। गुप्तकाल जिसे हम भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहते हैं वस्तुतः इसी तथाकथित अन्धकार-युग की सुदृढ़ आधारशिला पर खड़ा है। यह अन्धकार युग भारत की आर्थिक समृद्धि का नव-निर्माण काल था। विदेशियों द्वारा भारतीयों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध इसी काल में प्रारम्भ होते हैं और वे सहर्ष भारतीय धर्म को अंगीकार करते हुए प्रदर्शित हैं। इनमें सर्वप्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण हेलियोडोरस नामक यूनानी का गरुडध्वज अभिलेख है जिसमें वह वैष्णव धर्म में दीक्षित होता हुआ प्रदर्शित है। कार्दमकवंशीय शक नरेश रुद्रदामन ने दक्षिणापथ के सातवाहनों, आम्नपथ के इक्ष्वाकुओं एवं वैशाली के लिच्छवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये^७। इसी काल में यवन नरेश मिनेण्डर ने बौद्ध धर्म अंगीकार किया। कुषाण-वंश में कनिष्क की चौथी पीढ़ी में वासुदेव नामधारी नरेश हुआ जो वैष्णव धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। इसी प्रकार ऋषभदत्त का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि वह जैन धर्म के सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुआ जो उसके नाम से स्वतः सूचित होता है। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि **तित्थोगाली** एवं **तिलोयपण्णत्ति** के रचनाकारों ने जैन धर्म से प्रभावित इस प्रभावशाली शक नरेश को वीर निर्वाण से समीकृत किया हो। ये जैनाचार्य कुषाणवंशीय कनिष्क को वीर निर्वाण से क्यों सम्बन्धित करेंगे जो जैन धर्म से अत्यन्त अल्प परिचित हो तथा शैव एवं बौद्ध धर्म से ज्यादा प्रभावित हो। कनिष्क की मुद्राएँ यह संकेत करती हैं कि वह भारतीय धर्मों में शैव एवं बौद्ध धर्म से ज्यादा प्रभावित था और बौद्ध धर्म के विकास में तो उसने विशेष योगदान दिया।

महावीर के निर्वाण से सम्बन्धित विभिन्न साक्ष्यों की हमने समालोचना की है। जैन धर्म के अन्तः साक्ष्य और उसकी पट्टावलियाँ, प्लूटार्क और जस्टिन के यूनानी साक्ष्य चन्द्रगुप्त मौर्य एवं अशोक से सम्बन्धित बौद्ध साक्ष्य — सभी एक निर्णायक निष्कर्ष की ओर इंगित करते हुए प्रतीत होते हैं कि महावीर का-निर्वाण ४८१ ई० पू० में एवं महात्मा बुद्ध का निर्वाण उनके १४ वर्ष पहले ४९५ ई० पू० में हुआ।

सन्दर्भ

१. **वीरनिर्वाण संवत् और जैन काल गणना**, लेखक — मुनि कल्याण विजय प्रका० क० वि० शास्त्र समिति, जालौर, वि० सं० १९८७, पृष्ठ १-५।
२. “एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति वेधञ्जा नाम सक्या तेस अम्बवने पासादे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्जमञ्जं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरति”

दीर्घनिकाय, पासादिकसुतं ६/१/१

३. **सागर जैन विद्याभारती**, भाग प्रथम, पृ० २५८, लेखक — डॉ० सागरमल जैन, प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, १९९४।

4. *The Age of Imperial Unity*, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, Fourth Edition, 1968, p. 38.
5. Ashoka's coronation thus must have taken place between 277 and 270 B. C.

The Age of Imperial Unity, p. 94.

6. The date of Ashoka's coronation can hardly be pushed back beyond 277 B. C., because his grand-father, according to all the chronicles, whose evidences carries the weight, died after a reign of 24 years, and the next king Bindusara, the father and immediate predecessor of Ashoka, ruled for atleast 25 years (326 - 24 - 25 = 277 B. C.).

Ibid, pp. 92-93.

७. *तित्योगालीपइन्नयं* (पइण्णय सुत्ताइं) ६२१
८. *परिशिष्टपर्व*, ८-३३९ (जैनधर्म प्रसारक संस्था, भावनगर)
9. *The Age of Imperial Unity*, p. 51.
१०. *विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह* (प्रथम भाग), मुनि जिनविजय, सिंधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६१
११. *सागर जैन-विद्या भारती* (भाग एक) पृ० २६०-२६१
१२. वही, पृ० २६१-२६२
१३. क — *तित्योगाली पइण्णयं* (पइण्णयसुत्ताइं), गाथा ६२३
ख — *तिलोयपण्णत्ति*, ४-१४९९, सम्पा० — प्रो० हीरालाल जैन, जैन संस्कृति रक्षक संघ, शोलापुर
१४. “णिव्वाणे वीर जिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु । पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा” — *तिलोयपण्णत्ति*, वही
१५. “पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। परिणिव्वु — अस्सडरहितो सो उप्पण्णो सगो राया”

— *तित्योगाली पइण्णयं*, ६२३

16. *The Age of Imperial Unity*, p. 181.
17. *Ibid*, p. 185.

* प्रवक्ता, श्री बजरंग स्नातकोत्तर महाविद्यालय
दादर आश्रम, सिकन्दरपुर, बलिया

तरंगलोला और उसके रचयिता से सम्बन्धित भ्रान्तियों का निवारण

पं० विश्वनाथ पाठक*

विद्वानों का यह निश्चित मत है कि गुणादय की बड्कहा (बृहत्कथा) के समान पालित (पादलिप्त) की तरंगवईकहा (तरंगवती कथा) भी पूर्णतः विलुप्त हो चुकी है। उपलब्ध तरंगलोला उसी अनुपलब्ध कृति का सारांश है। 'तरंगलोला' और 'तरंगवती' के सम्बन्ध में डॉ० जगदीश चन्द्र जैन 'प्राकृत जैन-कथा साहित्य' में लिखते हैं —

तरंगवती पादलिप्त की कृति है, यह अनुपलब्ध है। "... ..
... .. तरंगवती का संक्षिप्त रूप तरंगलोला (संखिततरंगवई) के नाम से प्रसिद्ध है जिसकी रचना आचार्य वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने की है।" (पृ० २६-२७)

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का अभिमत यह है —

"तरंगवती एक प्राचीन कृति है। यद्यपि यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर यत्र-तत्र उस के उल्लेख अथवा तरंगलोला नाम का जो संक्षिप्त रूप उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि यह धार्मिक उपन्यास था।... .. तरंगवती आज मूल रूप में प्राप्त नहीं है। उसका संक्षिप्त रूप जिसका दूसरा नाम तरंगलोला है, प्राप्य है। इस ग्रन्थ को वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र गणि ने तरंगवती कथा के लगभग १०० वर्ष पश्चात् यश नामक अपने शिष्य के स्वाध्याय के लिये लिखा है। नेमिचन्द्र के अनुसार पादलिप्त ने तरंगवती की कथा देशी भाषा में की थी।" (पृ० ४५०-४५१) तरंगवती की गुजराती भूमिका में डॉ० हीरालाल रसिकदास कापडिया ने यह मत व्यक्त किया है कि तरंगवती पूर्णतः नष्ट हो गई है। (पृ० १५) तरंगलोला उसका सारांश है। तरंगलोला की प्रारम्भिक गाथाओं के आधार पर तरंगवती कथा के प्राकृत में रचित होने का निश्चय होता है —

१. "आ ऊपर थी तरंगवई पाइय मां हती ए नक्की थाय छे।" (पृ० १९) डॉ० कापडिया यह मानते हैं कि रचनाकार का उल्लेख करने वाली गाथायें अशुद्ध हैं, अतः उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह निश्चित है कि तरंगलोला नेमिचन्द्र या उनके किसी शिष्य की रचना है। (भूमिका, पृ० २१) जीवण भाई छोटा भाई झवेरी द्वारा प्रकाशित और श्री कस्तूरविजय जी द्वारा सम्पादित तरंगलोला के प्रारम्भिक पृष्ठ पर 'हाईयपुरीयगच्छीय वीरभद्रसूरिवरसीसरयणगणिसिरीनेमिचंदस्स जसेण (?)

विरइया' छपा है। सम्पादक ने 'जसेण' के पश्चात् कोष्ठक में प्रश्नचिह्न लगा कर रचयिता के विषय में अनिश्चय प्रकट किया है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' शीर्षक ग्रन्थ के षष्ठ भाग में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी उपर्युक्त दोनों रचनाओं के सम्बन्ध में यह लिखते हैं —

'तरंगवती तो अपने मूल रूप में हमें उपलब्ध नहीं है पर उसका संक्षिप्त रूप १६४२ प्राकृत गाथाओं में तरंगलोला नाम से मिलता है' (पृ० ३३५)।

रचयिता और रचनाकाल

"इस तरंगलोला के रचयिता वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्र गणि हैं जिन्होंने मूल तरंगवती कथा के लगभग १०० वर्ष पश्चात् यश नामक अपने शिष्य के स्वाध्याय के लिये इसे लिखा था।" (पृ० ३३६)

स्पष्ट है, डॉ० कापड़िया और श्री कस्तूरविजय जी का तरंगलोला के रचनाकार के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। शेष जो विद्वान तरंगलोला को नेमिचन्द्र की रचना मानते हैं उनके उद्धरणों से प्राप्त सूचनाओं में निम्नलिखित तीन प्रमुख बिन्दु हैं —

१. तरंगवती कथा पूर्णतः अनुपलब्ध है।
२. तरंगलोला, तरंगवती का संक्षिप्त सारांश है।
३. नेमिचन्द्र ने अपने शिष्य यश के स्वाध्याय के लिये तरंगलोला की रचना की थी ।

अब हम इन बिन्दुओं की सत्यता का पृथक्-पृथक् परीक्षण करेंगे।

प्रथम बिन्दु को हम आंशिक रूप में ही स्वीकार करते हैं क्योंकि तरंगवती का प्रचुर भाग नष्ट हो जाने के पश्चात् भी उसका कुछ भाग अब भी उपलब्ध है। आगे इस विषय का विस्तृत विवेचन करना है, अतः थोड़ी देर के लिये इसे यहीं छोड़ देते हैं। अभी सर्वप्रथम तरंगलोला के रचयिता से सम्बद्ध भयंकर एवं दुर्भेद्य भ्रान्तिपटल का निवारण कर देना अनिवार्य है। तरंगलोला की अन्तिम गाथा में लेखक का नाम इस प्रकार दिया गया है —

हाईयपुरीयगच्छे सूरी जो वीरभद्रनामे (मो) ति।

तस्य सीसस्स लिहिया जसेणा गणिनेमिचंदस्स ॥ १६४२ ॥

इस गाथा के अन्तिम पाद में एक मात्रा की कमी रह जाती थी, अतः रचयिता ने 'जसेण' के णकार को दीर्घ कर दिया है।

उपर्युक्त प्राकृत गाथा का पूर्वार्ध नितान्त सरल एवं स्पष्ट है, परन्तु उत्तरार्ध में 'जस' शब्द की तृतीय विभक्ति और नेमिचंद की षष्ठी विभक्ति के कारण अर्थावगति में विकट अवरोध उत्पन्न हो गया है। यदि 'जस' को तृतीय के आधार पर (कर्तृकरणयोस्तृतीया अ० २/३/१८) 'लिहिया' क्रिया का कर्ता मानते हैं तो षष्ठ्यन्त 'सीसस्स गणिनेमिचंदस्स' (शिष्यस्य गणिनेमिचन्द्रस्य) यह अंश निरर्थक सा प्रतीत होने लगता है क्योंकि 'जस' और

नेमिचंद्र का पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट करने वाला कोई भी पद गाथा में नहीं है। 'क्वचिद्वितीयादेः' (हे० प्रा० ३/१३४) के अनुसार षष्ठी को तृतीयार्थक समझ कर 'नेमिचंद्र' को 'लिहिया' क्रिया का कर्ता स्वीकार करने पर भी 'तस्स सीसस्स गणिनेमिचंद्रस्स लिहिया' इस प्रकार अन्वय होगा जिसमें अन्वयाभाव के कारण 'जसेण' शब्द का कोई उपयोग ही नहीं रह जायेगा। 'पञ्चम्यास्तृतीया च' (प्रा० व्या० ३/१३६) एवं 'हेतौ' (अ० २/३/२३) के आधार पर 'जसेण' की तृतीया को हेत्वर्थक मान कर उक्त बाधा को दूर करने का कष्टसाध्य प्रयत्न किया जा सकता है, परन्तु अनावश्यक एवं अतिरिक्त श्रम करने की आवश्यकता तब पड़ती जब स्पष्ट कर्तृत्वसूचक तृतीया 'जस' शब्द में विद्यमान न होती।

यश (जस) को शिष्य सिद्ध करने के लिये षष्ठ्यन्त 'नेमिचन्द्रस्स' का अन्वय 'सीसस्स' से करने पर उस (जस) की तृतीया विभक्ति आड़े आ जाती है और 'तस्स' शब्द के साकांक्ष रह जाने के कारण पूर्वार्थ का सम्पूर्ण वर्णन अर्थहीन हो जाता है। इस प्रकार उत्तरार्थ का अर्थ इतना उलझ गया है कि लेखक या रचयिता के सम्बन्ध में निर्भ्रान्त मत व्यक्त करने की विकट समस्या खड़ी हो गई है।

पूर्वचर्चित विद्वान 'जस' शब्द की तृतीया विभक्ति की उपेक्षा करके नेमिचन्द्र को ही तरंगलोला का कर्ता मान बैठे हैं, परन्तु यह उनका कोरा भ्रम है। तृतीयान्त 'जसेण' पद को बीच से हटाये बिना नेमिचन्द्र को उक्त ग्रन्थ का रचयिता सिद्ध करना उपहासास्पद है। साथ ही 'जस' की तृतीया को पदच्युत करके षष्ठ्यन्त 'नेमिचंद्रस्स' में पुनः तृतीया का आक्षेप करते हैं। वे प्रत्यक्ष कामधेनु को छोड़ कर कल्पित गाय को दुहने का निरर्थक कष्ट उठाते हैं। यदि नेमिचन्द्र ने यश (जस) के स्वाध्याय के लिये तरंगलोला की रचना की होती तो उक्त (जस) शब्द में नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति रहती । प्राकृत व्याकरण में चतुर्थी के लिये तृतीया का विधान नहीं है। मूल गाथा में एक भी स्वाध्यायवाचक शब्द नहीं है। अतः यश न तो नेमिचन्द्र का शिष्य था और न उन्होंने उसके स्वाध्याय के लिये तरंगलोला की रचना की थी।

वस्तुतः उपर्युक्त गाथा की अस्पष्टार्थता का प्रमुख कारण वह अन्वयानुपपत्ति है जो तृतीयान्त कर्तृपद 'जसेण' के रहने पर भी 'नेमिचंद्रस्स' की षष्ठी में तृतीयार्थ-कल्पना से उत्पन्न हुई है। प्रश्न यह है कि जब 'जस' शब्द में कर्तृत्व को स्पष्टरूप से प्रकट करने वाली तृतीया पहले से ही विद्यमान है तब उसके अतिरिक्त अन्य किसी कर्ता को ढूँढने के लिये 'नेमिचंद्र' की षष्ठी को तृतीयार्थक क्यों मानें ? 'नेमिचंद्र' की षष्ठी को चतुर्थ्यर्थक मान लेने में क्या आपत्ति है ? अन्वय की अनुपपत्ति को दूर करने का यही स्वाभाविक और सरलतम उपाय है, क्योंकि प्राकृत में चतुर्थी के स्थान पर प्रायः सर्वत्र षष्ठी का ही प्रयोग होता है — चतुर्थ्याः षष्ठी (प्रा० व्या० ३/१३१)

'नेमिचन्द्रस्स' पद में विद्यमान षष्ठी को चतुर्थी के अर्थ में स्वीकार कर लेने पर गाथा की संस्कृतच्छाया यह होगी —

हाईयपुरीयगच्छे सूरियो वीरभद्र नामा इति।

तस्य शिष्याय लिखिता 'जसेन' गणिनेमिचन्द्राय॥

गाथा में 'इति' शब्द केवल पादपूर्ति के लिये प्रयुक्त है। इसका अन्वय यह है — हाईयपुरीयगच्छे यो वीरभद्रनामा सूरिस्तस्य शिष्याय गणिनेमिचन्द्राय 'जसेन' (यशोनाम्ना केनचिद्विदुषा) लिखिता।

इस अन्वित वाक्य में कोई भी आर्थिक गतिरोध नहीं है। यहाँ 'नेमिचन्द्रस्स' (नेमिचन्द्रस्य) में (षष्ठी शेषे अ० २/३/५० के अनुसार) शेषार्थक षष्ठी मान कर भी व्याख्या की जा सकती है। उस दशा में भी 'जस' (यश) नेमिचन्द्र से सम्बन्धित लेखन-व्यापार का कर्ता सिद्ध होता है। प्राकृत में षष्ठी का चतुर्थ्यर्थक होना नितान्त 'वाभाविक' है। अतः गाथा का विशुद्ध एवं स्पष्ट अर्थ यह होगा — हाईयपुरीय गच्छ में जो वीरभद्र नामक सूरि हैं, उनके शिष्य नेमिचन्द्र गणि के लिये 'जस' (यश) ने लिखा।

श्री नरसिंह भाई ईश्वर भाई पटेल ने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान लायमेन के द्वारा जर्मन भाषा में अनूदित 'तरंगलोला' के गुजराती अनुवाद में प्रस्तुत गाथा का यह अशुद्ध अर्थ दिया है —

"हाईय पुरीय गच्छ मां धयेला आचार्य वीरभद्रना शिष्य साधु नेमिचन्द्रगणिए आ कथानुं आलेखन कर्युं छे।" अर्थात् हाईय पुरीय गच्छ में हुये आचार्य वीरभद्र के शिष्य साधु नेमिचन्द्रगणि ने इस कथा का आलेखन किया है।

इस अनुवाद में भी तृतीयान्त 'जसेण' की उपेक्षा कर दी गई है। अतः हमने ऊपर जो व्याकरण सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है, वही प्रामाणिक है। उक्त व्याख्या से यह नितान्त स्पष्ट है कि 'जस' (यश—पूरा नाम यशोमित्र, यशोवर्धन, यशोदत्त कुछ भी हो सकता है) नामक किसी विद्वान ने वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र के लिये तरंगलोला को लिपिबद्ध किया था। नेमिचन्द्र उक्त ग्रन्थ के रचयिता नहीं हैं।

हम यहीं एक अन्य भ्रम को भी निरस्त कर देना चाहते हैं। गाथा में 'लिहिया' (लिखिता) क्रिया है। उसका प्रयोग रचिता (बनाया या रचा) के अर्थ में नहीं है। रचना (संस्कृत रच् धातु) और लिखना (संस्कृत लिख् धातु) — दोनों क्रियाओं के अर्थों में पर्याप्त अन्तर है। किसी कवि की रचना को अनेक व्यक्ति अपनी-अपनी लिपियों में लिख सकते हैं। परन्तु वे उस के रचयिता नहीं माने जाते हैं। गाथा में 'जसेण लिहिया' का अर्थ है — 'जस' (यश) ने लिपिबद्ध किया। मुद्रण यन्त्र के आविष्कार के पूर्व विद्वानों के द्वारा विरचित ग्रन्थों के प्रचारार्थ उनकी प्रतिलिपियाँ कराई जाती थीं। प्रतिलिपिकर्ता ही लेखक कहलाते थे। अतः उस समय लेखक और रचयिता का अन्तर स्पष्ट था। आज मुद्रणयन्त्र के कारण लिपिकर्ता नहीं रह गये हैं। अतः लेखक और रचयिता — दोनों एकार्थक बन गये हैं। 'जस' (यश) तरंगलोला का लिपिकर्ता मात्र था, रचयिता नहीं। यह तथ्य आगे और स्पष्ट हो जायेगा।

तरंगलोला को **तरंगवती** का संक्षिप्त रूप माना जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि उसका यह संक्षेपण किस कोटि में आता है। ग्रन्थों के संक्षेप दो प्रकार के होते हैं —

१. किसी ग्रन्थ का सारांश स्वरचित वाक्यों में प्रस्तुत करना।
२. किसी ग्रन्थ के विस्तृत एवं दुरूह अंशों को निकाल कर उसी के मूल आकार को छोटा बना देना।

प्रथम के उदाहरण **कथासरित्सागर** और रत्नप्रभसूरिकृत संस्कृत **कुवलयमाला** हैं। द्वितीय का उदाहरण अनन्ताचार्य की **चन्द्रापीडकथा** है जिसमें एक भी शब्द बाहर से नहीं जोड़ा गया है। बाणभट्ट के ही वाक्यों में **कादम्बरी** की सम्पूर्ण कथा प्रस्तुत कर दी गई है। **रामायण** और **महाभारत** के संक्षिप्त संस्करण भी इसी कोटि में आते हैं।

अब देखना यह है कि **तरंगलोला** में संक्षेपण की कौन सी पद्धति अपनायी गई है। इस सम्बन्ध में स्वयं संक्षेपक के ही शब्दों को उद्धृत करना उचित है। संक्षेपक ने प्रारम्भिक गाथाओं में संक्षेपण के पूर्व की परिस्थिति और संक्षेपण के प्रयोजन का इस प्रकार उल्लेख किया है —

पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेहिं।
 नामेणा तरंगवई कहा विचिता य विडला य ॥ ५ ॥
 कत्थयि कुलयाइं मणोरमाइं अण्णत्थ गुविलजुयलाइं।
 अण्णत्थ (छ) क्कलाइं दुप्परिअल्लाइं इयराणं ॥ ६ ॥
 न य सा कोइ सुणेइ ना पुण पुच्छेइ नेव य कहेइ।
 विउसाण नवर जोगा इयरजणो तीए किं कुण उ ॥ ७ ॥

अर्थात् पादलिप्ताचार्य ने देशी वचनों में **तरंगवती कथा** की रचना की है। वह विस्तृत, विपुल और विचित्र है। उसमें कहीं मनोहर कुलक है, अन्यत्र गुविल युगल हैं और अन्यत्र छक्कल हैं जो अन्य जनों (साधारण जन) के लिये दुर्बोध हैं। न उसे कोई सुनता है, न कोई पूछता है और न कोई कहता है। वह केवल विद्वानों के योग्य है। इतरजन (साधारण-जन) उससे क्या करें ?

संक्षेपक ने सोचा, यदि यही स्थिति रही तो साधारणजनों के कल्याणार्थ रची गई **तरंगवती** सर्वथा लुप्त हो जायेगी। अतः उसने उस अमूल्य कृति का साधारण जनोपयोगी संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया जो पादलिप्त (पालित्त) की रची हुई गाथाओं में ही उपनिबद्ध है। इसी का नाम **तरंगलोला** है। इस तथ्य का वर्णन संक्षेपक ने इस प्रकार किया है —

तो उच्चेजणं गाहाओ पालित्तएण रइयाओ ।
 देसीपयाइ मोत्तुं सखित्ततरी कथा एसा ॥ ८ ॥

१. उसका नाम भी 'सखित्त तरंगवई' (संक्षिप्त तरंगवती) है। यह नाम बिल्कुल वैसे ही है जैसे संक्षिप्त **वाल्मीकि रामायण** या संक्षिप्त **रामचरितमानस**।

इयराण हियद्वाए मा हा (हो) ही सव्वहा वि वोच्छ (च्छे) ओ
एवं विचिंति ऊणं खामे ऊणं तयं ए सूरिं ॥ ९॥

इन दोनों गाथाओं की व्याख्या के पूर्व उपलब्ध पाठ के औचित्य का परीक्षण कर लेना भी आवश्यक है। विद्वान सम्पादक ने नवम गाथा के चतुर्थ पाद में 'हा' (होही क्रिया का आद्यवयव) और 'च्छ' (वोच्छेओ का मध्यावयव) का शुद्धपाठ कोष्ठक में क्रमशः 'हो' और 'च्छे' देकर अध्येताओं को उपकृत किया है। सम्भवतः उनका ध्यान अष्टम गाथा पर नहीं गया होगा। उसमें एक छोटी सी अशुद्धि शेष रह गई है जिसके कारण छन्द के प्रथम पाद में एक मात्रा कम हो गई है और आर्थिक अवरोध भी उत्पन्न हो गया है।

उक्त गाथा में 'उच्चेजणं' शब्द का प्रयोग है। इस विकृत पाठ को यदि यथावत् रहने दें तो आठवीं गाथा की संस्कृतच्छाया यह होगी —

ततः 'उच्चेजणं' गाथाः पादलिप्तेन रचिताः।

देशीपदानि मुक्त्वा संक्षिप्ततरीकृता एषा॥

इसका अन्वय यह होगा — ततः पादलिप्तेन रचिताः गाथाः 'उच्चेजणं' देशीपदानि मुक्त्वा एषा संक्षिप्ततरी कृता।

इस वाक्य में 'उच्चेजणं' के आगे और पीछे के शब्दों का अर्थ तो स्पष्ट है परन्तु दोनों भागों का सम्बन्ध टूट गया है। सम्बन्ध-विच्छेद का कारण है — 'उच्चेजणं'। यह किसी सार्थक शब्द का लिपिभ्रष्ट रूप है। यदि इसे संज्ञा मानते हैं तो 'पादलिप्तेन रचिताः गाथाः' से कोई तालमेल नहीं बैठता है। अनुस्वारान्त होने के कारण यह न तो बहुवचन स्त्रीलिंग गाथा का विशेषण बन सकता है और न तृतीयान्त पादलिप्तेन का। प्राकृत में कथञ्चित् 'पालित्तएण' (पादलिप्तेन) का विशेषण बन जाने पर भी अन्वय की बाधा यथावत् रहेगी। अव्यय और सर्वनाम के रूप में भी इसका उपयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि उस दशा में भी वाञ्छित क्रिया के अभाव में आधा वाक्य निरर्थक रह जायेगा। 'पालित्तएण रइयाओ गाहाओ' (पादलिप्तेन रचिताः गाथाः) 'उच्चेजणं' यह एक अपूर्ण एवं साकांक्ष वाक्य है जिसकी आकांक्षा क्रिया से ही पूर्ण हो सकती है। गाथा में तीन क्रियाएँ उपलब्ध हैं — रइया, मोत्तुं और कया। इनमें 'रइया' 'गाहा' से 'मोत्तुं' 'देसीपयाइं' से और 'कया' 'एसा' से अन्वित है। क्रियाओं के आधार पर यह गाथा निम्नलिखित दो ऐसे वाक्य खण्डों में विभक्त हो जाती है जिनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है —

१. पादलिप्तेन रचिताः गाथाः 'उच्चेजणं'। (पादलिप्त के द्वारा रचित गाथा में पादलिप्त रचित गाथाओं को)

२. देशीपदानि मुक्त्वा एषा संक्षिप्ततरीकृता। (देशी पदों को छोड़कर यह संक्षिप्ततर कर दी गई है)

इन दोनों खण्डित और अखण्डित वाक्योंको परस्पर सम्बद्ध करने के लिये एक

उपयुक्त क्रिया आवश्यक है। गाथा के प्रथम पाद में एक मात्रा की न्यूनता का उल्लेख किया जा चुका है। अतः 'उच्चेजण' में ही एक मात्रा की वृद्धि के द्वारा खोई हुई क्रिया को ढूँढने का प्रयास करते हैं।

संस्कृत में एक धातु है 'चि'। उसमें प्राकृत का तत्त्वार्थक 'ऊण' प्रत्यय लगने पर चेऊण (चि + ऊण = चे + ऊण = चेऊण) रूप बनता है। यदि उक्त धातु में उत् उपसर्ग भी विद्यमान हो तो उच्चेऊण रूप (उच्चे + ऊण = उच्चेऊण) निष्पन्न होगा। उत् उपसर्गपूर्वक चि धातु का प्रयोग संग्रह के अर्थ में होता है। उच्चय, समुच्चय, चय आदि शब्द उसी से बनते हैं। 'उच्चेजण' उसी उच्चेऊण का लिपिच्युत-रूप है। उ का ज हो जाना लिपिकर्ता के प्रमाद से सम्भव भी है। गाथा के उपलब्ध पाठ में उत् उपसर्गपूर्वक चि धातु 'उच्चे' के रूप में अब भी पूर्णतः जीवित है, परन्तु बेचारे ऊण का तो शिर ही कट गया है।

अब उपर्युक्त दोनों गाथाओं को शुद्ध पाठ के साथ यों पढ़िये —

तो उच्चेऊणं गाहाओ पालित्तएण रइयाओ।

देशीपयाइं मोत्तुं संखित्ततरी कया एसा।।

इयराण हियड्ढाए मा होही सव्वहा वि वोच्छेओ ।

एवं विचित्तऊणं खामेऊणं तयं सूरिं।।

(यहाँ 'तयं' के स्थान पर 'सयं' अधिक उपयुक्त था — क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा प्रा० व्या० सूत्र १/२७ के अनुसार उच्चेऊण के स्थान पर अनुस्वारान्त उच्चेऊणं हो गया है)।

संस्कृतच्छाया — ततः समुच्चित्य गाथाः पादलिप्तेन रचिताः।

देशीपदानि मुक्त्वा संक्षिप्ततरी कृता एषा।।

इतरेषां हितार्थायाः मा भूत् सर्वथापि व्यवच्छेदः।

एवं विचिन्त्य क्षमयित्वा तदा सूरिम्।।

अन्वय — ततः इतरेषां हितार्थायाः (तरंगवत्याः) सर्वथापि व्यवच्छेदो मा भूत् एवं विचिन्त्य तदा सूरिं क्षामयित्वा पादलिप्तेन रचिताः गाथाः समुच्चित्य, देशीपदानि मुक्त्वा एषा संक्षिप्ततरी कृता।

अर्थ — इस कारण इतरजनों (साधारणजनों) का हित (कल्याण) ही जिसका उद्देश्य (प्रयोजन) है उस (तरंगवतीकथा) का सर्वथा व्यवच्छेद (विनाश) न हो जाये— ऐसा स्पष्ट कर तब सूरि (पादलिप्त) से (स्वयं को) क्षमा कराकर पादलिप्त के द्वारा रची गई गाथाओं को संगृहीत करके, देशी वाक्यबहुल स्थलों को छोड़ कर यह (पूर्वाकार की अपेक्षा) संक्षिप्ततर कर दी गई है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में संक्षेपण की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत कर दी गई है। इससे सिद्ध होता है कि 'संखित्ततरंगवई' या 'तरंगलोला' में संक्षेपण की पूर्वोक्तलिखित द्वितीय पद्धति अपनायी गई है। संक्षेपक ने पादलिप्त के द्वारा रची हुई गाथाओं में ही तरंगवती

की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है। अतः **तरंगलोला** किसी अन्य कवि की स्वतन्त्र संक्षेपात्मक रचना नहीं है। 'देसीपयाइं मोतुं' संक्षेप की पद्धति को सूचित करता हुआ इसी तथ्य को स्पष्ट करता है। संक्षेपक का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट है। वह विस्तृत एवं दुरूह किन्तु लोकमंगलकारिणी **तरंगवतीकथा** को सर्वथा विलुप्त हो जाने से बचाना चाहता था। जहाँ किसी ग्रन्थ के पूर्णतया नष्ट हो जाने की स्थिति आ गई हो वहाँ उसके कुछ ही अंशों को सुरक्षित कर देना एक श्लाघ्य प्रयत्न है और संक्षेपक ने वही किया। यदि वह स्वरचित गाथाओं में इस संक्षिप्त कृति को प्रस्तुत करता तब तो उसी के द्वारा **तरंगवती** की हत्या हो जाती। निस्सन्देह **संखिततरंगवईकहा** (**तरंगलोला**) विस्तृत एवं दुर्बोध **तरंगवती** कथा का ही सामान्य जनोपयोगी संस्करण है, अन्यथा देशी पदों (प्रान्तीय भाषा-वाक्यों) को छोड़ कर संक्षेप करने की बात ही क्यों कही जाती।

तरंगलोला एक संग्रह ग्रन्थ है। यह तथ्य एक अन्य गाथा में भी इंगित है —
पाययट्टं च निचइं धम्मकहं सुणह जइ ण दुब्बुद्धी । (१३वीं गाथा का पूर्वार्ध)
अर्थात् यदि पापबुद्धि नहीं है तो साधारणजनों के प्रयोजन वाली (पायय = प्राकृत = साधारण मनुष्य, अट्ट = अर्थ = प्रयोजन) और संग्रहात्मक (निचइं — यह निचय का स्त्रीलिंग रूप है, जैसे शिष्य का सिस्सी) धर्मकथा को सुनो।

इसमें जहाँ पादलिप्त के द्वारा रची हुई गाथाओं से ही **संखिततरंगवई** (**तरंगलोला**) के स्वरूप संघटन की बात दुहरायी गई है। वहीं यह भी संकेत दिया गया है कि उक्त ग्रन्थ का प्रस्तुत आकार प्राकृत जनों के लिये है। गाथा में प्रयुक्त दुर्बुद्धि शब्द **तरंगवती** के उपेक्षकों के प्रति संक्षेपक का आक्रोश व्यक्त करता है। यहाँ तक तो हमने अंतरंग प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि **तरंगलोला** पादलिप्त की ही रचना है। उसकी गाथायें **तरंगवती** से संगृहीत की गई हैं। अब इस तथ्य की पुष्टि के लिये एक बहिरंग प्रमाण भी प्रस्तुत है। **प्रभावकचरित** में यह प्राचीन गाथा आई है जिसमें **तरंगलोला** का रचनाकार पादलिप्त को बताया गया है —

“सीसं कह विण फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स।

जस्स मुहनिज्झाराओ **तरंगलोला** नई वूढा।।”

अर्थात् जिसके मुखनिर्झर से **तरंगलोला** रूपी नदी निकली थी उस पादलिप्त का अपहरण करते हुये यमराज का शिर क्यों न फट गया।

इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि **प्रभावकचरित** के पूर्व प्राचीन काल में **तरंगलोला** नेमिचन्द्र या यश की रचना नहीं मानी जाती थी। पूर्वोल्लिखित अन्तरंग प्रमाण के अनुसार **‘तरंगवई’** के इस संक्षेपात्मक से अरुचिकर विस्तृत वर्णन और विभिन्न देशी भाषाओं के वाक्यों को निकाल दिया गया है। 'देसीपयाइं मोतुं' का यह आशय नहीं है कि संक्षेपक ने पादलिप्त-रचित गाथाओं से प्राकृत के देशी शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर अपनी ओर से नये शब्द जोड़ दिये हैं। यदि ऐसा होता तो उपलब्ध **तरंगलोला** में सैकड़ों देशी शब्दों

की भरमार न होती। यहाँ पद शब्द का अर्थ वाक्य और देशी का अर्थ प्रान्तीय भाषा है (देखिये, **पाइयसद्महण्णव**) **सखित्तरंगवई** (**तरंगलोला**) की गाथा संख्या के सम्बन्ध में भी भ्रम है। प्रायः उसमें १६४२ गाथायें होने का उल्लेख किया जाता रहा है। हमने मूल ग्रन्थ को देखा है, उसमें ६७० वीं गाथा के पूर्वार्ध और ६७७ वीं गाथा के मध्य की गाथाएँ अनुपलब्ध हैं, फिर भी उनकी संख्या सम्मिलित कर ली गई है। ग्रन्थ में अनेक गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनका अर्धांश या चतुर्थांश अनुपलब्ध है। यदि इन टूटी हुई गाथाओं को पूरा गिन लें तब भी उपर्युक्त ६१/२ गाथाओं को १६४२ में कम करना पड़ेगा। कथारम्भ के पूर्व विद्यमान प्रारम्भिक १३ गाथाओं में ग्रन्थ का उपोद्घात वर्णित है। १६४१ वीं गाथा उपसंहारात्मक है। ये १४ गाथायें संक्षेपकर्ता के द्वारा रची गई हैं। अन्तिम गाथा में लिपिकर्ता का उद्देश्य और नाम वर्णित है। यह यश के द्वारा जोड़ी गई है। शेष सभी गाथाओं के रचयिता पादलिप्ताचार्य हैं। ये गाथायें **तरंगवती** कथा से ली गई हैं।

संक्षेपकर्ता और उपलब्ध प्रति के लिपिकर्ता दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति प्रतीत होते हैं। संक्षेपकर्ता (जिनका नाम अज्ञात है) स्पष्टतया पादलिप्ताचार्य के समसामयिक हैं, क्योंकि उन्होंने संक्षेपण के लिये सूरि (पादलिप्ताचार्य) से क्षमा माँगने का उल्लेख किया है —

खामेऊणं तयं सूरिं।

उनके कुछ उदात्त एवं निश्चित उद्देश्य थे। वे एक उत्कृष्ट किन्तु दुरूह साहित्यिक कृति की सुरक्षा और सामान्यजन के कल्याण की पवित्र भावना से उत्प्रेरित थे। इसके विपरीत लिपिकर्ता यश (जस) का अपना कोई भी उद्देश्य नहीं था। उसने केवल नेमिचन्द्र के प्रयोजनार्थ ग्रन्थ की प्रतिलिपि की थी। **तरंगलोला** में दो बार ग्रन्थ के प्रयोजन का उल्लेख है। प्रथम बार (प्रारम्भ में) उसका सम्बन्ध संक्षेपण क्रिया से है और दूसरी बार (अन्त में लिपि से), ये प्रयोजन परस्पर भिन्न हैं। यदि संक्षेपकर्ता और लिपिकर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति न होते तो उनके प्रयोजनों में न इतना अन्तर होता और न दो बार उल्लेख करने की आवश्यकता ही पड़ती ।

इस प्रकार **तरंगलोला** की प्रारम्भिक गाथाओं के आधार पर अब यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है कि **सखित्तरंगवई** (**तरंगलोला**) बृहत् **तरंगवती** का ही सामान्य जनोपयोगी लघु संस्करण है। यह पादलिप्त के द्वारा रची गई उन गाथाओं का समुच्चय है जो कथानक से प्रत्यक्ष सम्बद्ध थीं। अतः नेमिचन्द्र इसके रचयिता कैसे हो सकते हैं ? यश (जस) ने इसकी प्रतिलिपि अवश्य की थी और वही आज उपलब्ध है।

* **भूतपूर्व शोध अधिकारी**
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

‘सन्देशरासक’ में पर्यावरण के तत्त्व

डॉ० श्रीरजन सुरिदेव

रमणीय अपभ्रंश काव्यों की परम्परा में कवि अब्दुल रहमान (अदहमाण) कृत ‘सन्देशरासक’ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब्दुल रहमान भाषा-काव्य के सर्वप्रथम मुसलमान लेखक हैं। वह जितने ही विनयी कवि थे, उतने ही मानी भी थे। उनमें भारतीय साहित्य का संस्कार पूरी तरह विद्यमान था। उन्होंने ईसा की ग्यारहवीं से तेरहवीं शती के बीच ‘सन्देशरासक’ की रचना की थी। जैसा नाम से स्पष्ट है, ‘सन्देशरासक’ शृङ्गारप्रधान रासक काव्यों में प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है। यह एक प्रकार का विलक्षण दूतकाव्य है। यद्यपि इसकी रचना का आधार-स्रोत महाकवि कालिदास का प्रसिद्ध दूतकाव्य ‘मेघदूत’ है, तथापि ऋतु-वर्णन की दृष्टि से यह उनके ऋतुसंहार काव्य के अधिक निकट है।

‘सन्देशरासक’ काव्य का सम्पूर्ण कलेवर तीन प्रक्रमों में विभक्त है। प्रथम प्रक्रम में काव्य की प्रस्तावना है। वास्तविक कथा द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ होती है। तृतीय प्रक्रम में, अज्ञातनामा विरहिणी नायिका अपने मालिक का पत्र (लेख) लेकर ‘मूलस्थान’ (मुलतान) से खम्भात (गुजरात) जाते हुए पथिक को आग्रहपूर्वक रोककर उससे अपने खम्भात-प्रवासी अनक्षर या अनाम पति के पास अपना विरह-सन्देश पहुँचाने का अनुरोध करती है। इसी क्रम में वह छहों ऋतुओं में होने वाली अपनी दारुण कामदशा का वर्णन करती है। षड्ऋतु-चक्र का वर्णन पूरा हो जाने के बाद विरहिणी नायिका पथिक को आशीर्वचन के साथ विदा कर देती है। पथिक के जाते ही उस विरहिणी को दक्षिण दिशा से आता हुआ उसका पति दिखाई पड़ता है, जिससे वह हर्षित हो जाती है और इसी के साथ ही ग्रन्थ भी समाप्त हो जाता है।

‘सन्देशरासक’ पूर्णतया लौकिक काव्य है। इसमें उत्कृष्ट काव्य-कौशल और निश्छल लोकतत्त्वों का मणिकांचन संयोग हुआ है। फलतः, यह काव्य-कृति जहाँ अपने समय की भारतीय काव्य-गरिमा का परिचय देती है, वहीं लोकजीवन की सहज हृदयावर्जक झाँकियाँ भी प्रस्तुत करती है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार काव्य होने का कारण ‘सन्देशरासक’ में स्वभावतया विरह-वर्णन की प्रधानता है। विरह-वर्णन के क्रम में कवि ने रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन और ऋतु-वर्णन में परम्परित काव्य रूढ़ियों और उपमानों की रसात्मक अवतारणा की है। किन्तु द्वितीय प्रक्रम में, नगर-वर्णन के अन्तर्गत ‘वनस्पतिनामानि’ शीर्षक से कवि ने कुल मिलाकर एक सौ पाँच वनस्पतियों के नाम लिनाये हैं। यद्यपि गणना में कई वनस्पतियों के नाम दुबारा आ गये हैं।

इनमें कुछ वनस्पतियाँ लोकजीवन में अतिशय परिचित हैं, परन्तु अनेक वनस्पतियाँ सर्वथा अपरिचित-सी प्रतीत होती हैं।

प्रस्तुत आलेख में कवि अद्दहमाण द्वारा विभिन्न छन्दों में उपस्थापित वनस्पतियों के नाम मूल अपभ्रंश-काव्य पंक्तियों (प्रक्रम २, छन्द ५५-६३) से आकलित हैं। अवश्य ही कवि द्वारा निर्देशित विपुल वनस्पति-समूह पर्यावरण के तत्त्व के रूप में विवेच्य हैं। पाठकों की सुविधा के लिए प्रत्येक वनस्पति का नाम अपभ्रंश व हिन्दी में उपन्यस्त है —

अपभ्रंश	हिन्दी	अपभ्रंश	हिन्दी
१. ढल्ल	(?)	२४. तंमाल	तमाल
२. कुंद	कुंद	२५. तुंबर	तूमड़, लौकी
३. सयवन्तिय	शतपत्रिका	२६. खयर	खदिर, खैर
४. रत्तबल	रक्तोत्पल	२७. संजिय	संजीवनी
५. मालइ	मालती	२८. सइवतिय	शतपत्रिका (द्विरुक्त)
६. मालिय	मल्लिका	२९. सिरीस	शिरीष
७. जूही	जुही	३०. सीसम	शीशम
८. खट्टण	(?)	३१. सयर	(?)
९. बालू	एलंबालु (दालचीनी)	३२. पिप्पल	पीपल
१०. चंबा	चम्पा	३३. पाडल	पाटल
११. बउल	बकुल (मौलसिरी)	३४. तुय	त्वक् (दालचीनी)
१२. कवइ	केतकी	३५. पलास	पलाश
१३. कंदुट्टय	नीलकमल	३६. घणसार	घनसार (कर्पूर)
१४. माउलिंग	मातुलिंग (एक प्रकार का नींबू)	३७. तुज्ज	(?)
१५. मालूर	मालूर (बेल, कैथ)	३८. हिरण्ण	हिरण्यः धतूरा
१६. मायंद	माकन्द	३९. भुज्ज	भूर्जवृक्ष (भोजपत्र का पेड़)
१७. मुर	मुर	४०. धय	धब, धाय
१८. दक्ख	द्राक्षा	४१. वंसवण	वंशवन
१९. भंभ	भम्भ	४२. नालिएर	नारियल
२०. ईखोउ	अखरोट	४३. निंबोय	नींबू
२१. आरु	आरू, अरुई	४४. निबिंजय	नोउंजी (?)
२२. सियर	शतावरी	४५. निंब	नीम
२३. ताल	ताड़	४६. वड	बरगद

४७. ढक्क	ढाक	७७. लवंग	लौंग
४८. अँबिलिय	आमला	७८. कणयार	कनेर
४९. कणय	धतूरा : कनक	७९. कइर	कैर
५०. चंदण	चंदन	८०. कुरबय	कुरबक
५१. आमरुय	अमरूद. आम्रातक, आमड़ा	८१. खंतंग	(?)
५२. गुल्लर	गूलर	८२. अँबिलिय	अमिया
५३. महूय	मधूक : महुआ	८३. कयंब	कदम्ब
५४. आमलि	इमली	८४. बिभीय	बिभीतक, बहेड़ा
५५. अभय	अभया : हरीतकी	८५. चोय	चोप (चोआ)
५६. नायबेलि	नागवल्ली : पान	८६. रतंजण	रक्तांजन
५७. मंजिड्ड	मंजीठ	८७. जंबुय	जामुन
५८. मंदार	मदार : अकवन, पारिजात	८८. असोय	अशोक
५९. सिंधुवार	सिन्दुवार	८९. जंबीर	जमीरी नींबू
६०. सुवालउ	(?)	९०. सुहंजण	शोभांजन, सहिजन
६१. किंकिल्लि	कंकोली (काकोली)	९१. नायरंग	नारंगी
६२. कुंज	कुंज (?)	९२. बिज्ज	बिजौरा नींबू
६३. कुंकुम	कुंकुम	९३. आयरुय	अगरु
६४. कबोल	कपित्थ	९४. रत्तसाल	रक्तशाल
६५. सुरयार	(?)	९५. आरिड्डय	अरिस्टक : रीठा
६६. सल्लइ	सल्लकी	९६. दमणय	दमनक : दौना
६७. बायंब	बायबिडंग	९७. गिद्द	गेंदा
६८. निंव	नीम	९८. चीइ	चीइ
६९. निंबू	नींबू	९९. खज्जूरि	खजूर
७०. चिनार	चिनार	१००. बेरि	बेर
७१. सिमि	शमी	१०१. भाहण	(?)
७२. साय	शाक	१०२. वोहेय	बहेड़ा
७३. देवदार	देवदार	१०३. डवण	दौना (दमनक)
७४. लेसूड	लिसोड़ा	१०४. तुलसीयल	तुलसीदल
७५. एल	इलायची	१०५. चूय	आम्र : चूत
७६. लविय	(?)		

‘सन्देशरासक’ में वनस्पतियों का यह प्रसंग उस समय आया है, जिस समय इस

काव्य की विरहिणी नायिका अपना सन्देश अपने परदेशी पति के पास पहुँचाने के लिए एक पथिक से आग्रह करती है। जैसा पहले कहा गया, पथिक साम्बपुर का निवासी है और वह तपनतीर्थ (मूलस्थान : मुलतान) से अपने स्वामी का गोपनीय सन्देश लेकर खम्भात जा रहा है।

पथिक साम्बपुर के प्रशंसापरक वर्णन में अपने उस नगर की वानस्पतिक समृद्धि की ओर संकेत करता है और विरहिणी से गर्व के साथ कहता है कि साम्बपुर में इतने वनस्पति हैं कि सबके नाम जानना कठिन है। संक्षेप में, यही समझो कि इन वनस्पतियों की सघन और निरन्तर छाया में दस योजन तक की दूरी पूरी की जा सकती है।

भारतीय संस्कृति में वृक्षपूजा को अतिशय महत्त्व दिया गया है। इसलिए समस्त प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य, वृक्षों की महिमा से मण्डित है। वृक्षपूजा की महत्ता सार्वभौम स्तर पर स्वीकृत है। यहाँ तक कि विविध प्रदूषणों से पर्यावरण की प्ररक्षा के लिए वन-सम्पदाओं या पेड़-पौधों की अस्मिता या अस्तित्व की अनिवार्यता, राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार की गई है। इस सन्दर्भ में कवि अदहमाण द्वारा यथारूप चित्रित पर्यावरण के मूल तत्त्वभूत वन और वनस्पतियों का पार्यान्तिक महत्त्व है।

* भूतपूर्व निदेशक

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद



हारीजगच्छ

डॉ० शिवप्रसाद*

प्राक्मध्यकाल और मध्यकाल में निर्ग्रन्थ परम्परा के अल्पचेल (श्वेताम्बर) आम्नाय के अन्तर्गत विभिन्न नगरों या ग्रामों से उद्भूत अल्पजीवी गच्छों में हारीजगच्छ भी एक है। पाटण और शंखेश्वर के मध्य मेहसाणा जिले में जिला मुख्यालय से ६७ किलोमीटर दूर पश्चिम में हारीज नामक एक स्थान है। यह गच्छ सम्भवतः वहीं से अस्तित्व में आया प्रतीत होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध केवल एक साहित्यिक साक्ष्य आज मिलता है वह है कातत्र-व्याकरण पर दुर्गासिंह द्वारा प्रणीत वृत्ति पर वि० सं० १५५६/ईस्वी सन् १५००में रची गयी अवचूर्णि; जो आज श्री विजयसूरीश्वर ज्ञानमन्दिर, राधनपुर में संरक्षित है।^१ श्री अमृतलाल मगनलाल शाह ने उक्त कृति की प्रशस्ति का पाठ दिया है^२, जो कुछ सुधारों के साथ निम्नानुसार है :

सं० १५ आषाढादि ५६ वर्षे । शाके १४२१ प्रवर्तमाने फाल्गुनमासे शुक्ल पक्षे । तृतीयातिथौ । रविदिने । मीनराशिस्थितचन्द्रे ॥ तदिने ॥ श्रीभानुराज्ञि राज्यं कुर्वाणे अद्येह । श्री इलदुर्गे ॥ श्री श्री ॥ हारीजगच्छे । पूज्ये श्री सिंघ(ह)दत्तसूरि तच्छिष्येण उदयसागरेण अवचूर्णिः कृता ॥ जयकलशेन सूत्रमालिखितम् ॥ सूत्रद्वयस्वादि । अवचूर्णि जयकुशलनेव कृता । शुभमस्तु । लेखकपाठकयोः ।

उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इसमें हारीजगच्छ के सिंहदत्तसूरि के शिष्य उदयसागर का अवचूर्णि के रचनाकार के रूप में नाम मिलता है। लिपिकार के रूप में इस प्रशस्ति में उल्लिखित जयकलश एवं जयकुशल भी इसी गच्छ से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त प्रशस्ति से ऐसी कोई बात ज्ञात नहीं होती जिससे इस गच्छ के इतिहास पर कुछ विशेष प्रकाश पड़ सके। फिर भी हारीजगच्छ से सम्बद्ध एकमात्र साहित्यिक साक्ष्य होने से इस प्रशस्ति का विशिष्ट महत्त्व है।

इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि० सं० १३३० से लेकर वि० सं० १५७७ तक के हैं। इनका विवरण निम्नानुसार है —

लेख वि०सं०तिथि-मिति	प्रतिष्ठापक	प्रतिमालेख/	प्रतिष्ठास्थान	संदर्भग्रन्थ
क्र०	आचार्य या	स्तम्भलेख		
	मुनि का नाम			

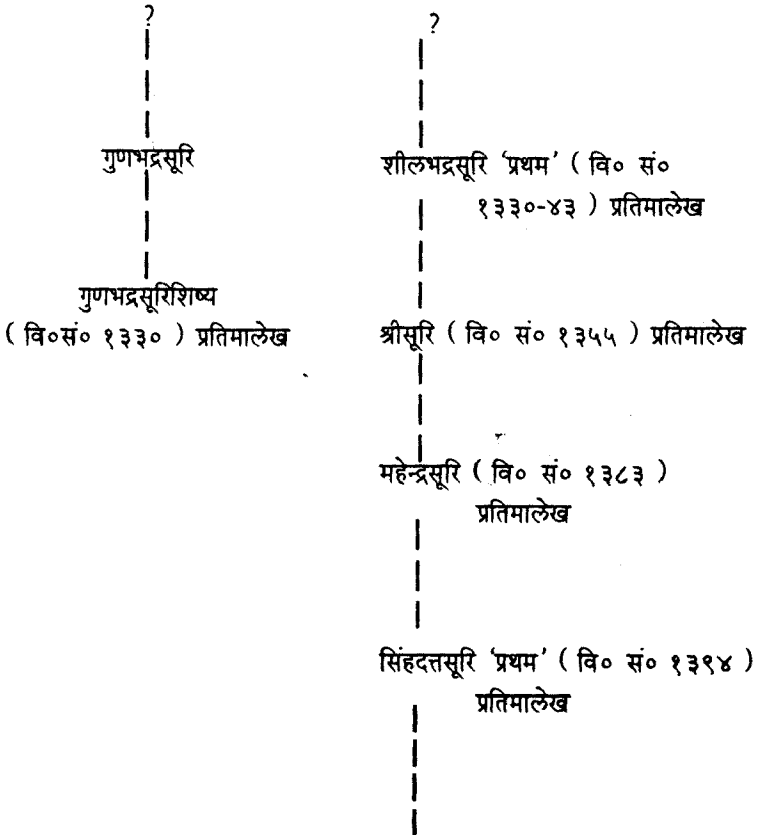
प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २,
लेखांक ४९१

- | | | | | |
|----------|--------------------------|--------------|---|---|
| २. १३३० | गुणभद्रसूरिशिष्य | | | वहीं, लेखांक ४७४ |
| ३. १३३३ | शीलभद्रसूरि | | | वहीं, लेखांक ४८५ |
| ४. १३४३ | शीलभद्रसूरि | | | वहीं, लेखांक ४८९ |
| ५. १३५५ | श्रीसूरि | | | वहीं, लेखांक ४७७ |
| ६. १३८३ | माघ सुदि ९
रविवार | महेन्द्रसूरि | पार्श्वनाथ महावीर
की प्रतिमा
का लेख | मुनि बुद्धिसागर, संपा०,
जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह,
भाग २, लेखांक ३८ |
| ७. १३९० | | सिंहदत्तसूरि | | मुनि कंचनसागर, संपा०,
शत्रुंजयगिरिराजदर्शन,
लेखांक २६७ |
| ८. १३९४ | वैशाख वदि
५ | सिंहदत्तसूरि | आदिनाथ
की प्रतिमा
का लेख | अनुपूर्ति-
लेख, आबू
अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह,
लेखांक ५६३ |
| ९. १४४५ | फाल्गुन वदि
१० रविवार | शीलभद्रसूरि | महावीर
की प्रतिमा
का लेख | पार्श्वनाथ
जिनालय,
हरसूली |
| १०. १४६६ | वैशाख सुदि
३ सोमवार | शीलभद्रसूरि | आदिनाथ
की पंचतीर्थी
प्रतिमा का
लेख | महावीर
जिनालय,
रीज रोड,
अहमदाबाद |
| ११. १४९४ | वैशाख सुदि
शुक्रवार | महेश्वरसूरि | शातिनाथ
की प्रतिमा
का लेख | बड़ा जैन
मंदिर,
लिंगडी |
| १२. १५०१ | चैत्र वदि ७ | महेश्वरसूरि | वासुपूज्य
की धातु-
प्रतिमा का
लेख | आदिनाथ
जिनालय,
जामनगर |
| १३. १५०३ | | महेश्वरसूरि | | मुनि कंचनसागर, पूर्वोक्त,
लेखांक २७७ |

१४. १५११	माघ वदि ३ बुधवार	महेश्वरसूरि	शीतलनाथ की धातु- प्रतिमा का लेख	बड़ा जैन मंदिर, शिहोर	मुनि विद्याविजय, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक २६६
१५. १५१७	मार्गशिर वदि ६ गुरुवार	महेश्वरसूरि	श्रेयांसनाथ की धातु- प्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्य बावन जिनालय, मातर	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग २, लेखांक ५१४
१६. १५२३	पौष वदि ८ गुरुवार	महेश्वरसूरि	कुन्धुनाथ की प्रतिमा का लेख	बालावसही, शत्रुञ्जय	मुनि कांतिसागर, संपा०, शत्रुञ्जयवैभव , लेखांक १७३
१७. १५२३	वैशाख वदि १ सोमवार	महेश्वरसूरि	नमिनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जी का मंदिर, बीकानेर	अगरचन्द नाहटा, भंवर- लाल नाहटा, संपा०, बीकानेरजैनलेखसंग्रह , लेखांक १०२९
१८. १५२३	वैशाख वदि १ सोमवार	महेश्वरसूरि	मुनि सुव्रत की प्रतिमा का लेख		साराभाई मणिलाल नवाब, “राजनगरना जिनमंदिरोमां सचवायेलां ऐतिहासिक अवशेषो”, जैनसत्यप्रकाश , वर्ष ९, अंक ८, पृष्ठ ३७८-३८३, लेखांक ३२
१९. १५२८	माघ वदि ५ गुरुवार	महेश्वरसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा लेख	शातिनाथ जिनालय, सधनपुर	मुनि विद्याविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ४१८, एवं मुनि विशालविजय, संपा०, सधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह , लेखांक २५६
२०. १५७७	मितिविहीन	शीलभद्रसूरि	वासुपूज्यकी प्रतिमा का लेख	संभवनाथ देरासर, कड़ी	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखांक ७३४
२१. १५७७	मितिविहीन	शीलभद्रसूरि	सुविधिनाथ की प्रतिमा का लेख	वहीं	वहीं, भाग १, लेखांक ७३९

उक्त प्रतिमालेखीय साक्ष्यों में से केवल द्वितीय लेख में (वि० सं० १३३०) प्रतिमाप्रतिष्ठापक मुनि ने अपने गुरु का नाम गुणभद्रसूरि बतलाया है, किन्तु अपना नाम नहीं बतलाया है। इसके विपरीत अन्य सभी लेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक मुनिजनों का नाम मिलता है किन्तु उनके गुरु का नामोल्लेख नहीं है, अतः ऐसी स्थिति में इन मुनिजनों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं हो पाती है। जैसा कि इस निबन्ध के प्रारम्भ में हम देख चुके हैं कातंत्रव्याकरण पर दुर्गसिंह द्वारा रची गयी वृत्ति पर रची गयी अवचूर्णि की प्रशस्ति में रचनाकार उदयसागरसूरि ने अपने गुरु सिंहदत्तसूरि का नाम दिया है।

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के विभिन्न मुनिजनों शीलभद्रसूरि 'प्रथम', महेन्द्रसूरि, सिंहदत्तसूरि 'प्रथम', शीलभद्रसूरि 'द्वितीय', महेश्वरसूरि, सिंहदत्तसूरि 'द्वितीय', शीलभद्रसूरि 'तृतीय' आदि के नाम तो ज्ञात हो जाते हैं, परन्तु वहाँ इनके गुरु का नाम न होने से इनके परस्पर सम्बन्धों के बारे में हमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती, फिर भी इन्हें कालक्रमानुसार निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है :



शीलभद्रसूरि 'द्वितीय' (वि० सं०
१४४५-६६) प्रतिमालेख

महेश्वरसूरि (वि० सं० १४९४-१५२८^१)
प्रतिमालेख

सिंहदत्तसूरि 'द्वितीय' (दुर्गासिंहवृत्तिअवचूर्णि
की प्रशस्ति में ग्रंथकार के गुरु के
रूप में उल्लिखित)

उदयसागरसूरि (वि०सं० १५५६-ई०सं०
१५०० में कातंत्रव्याकरणदौर्गासिंह-
वृत्तिअवचूर्णि के रचनाकार)

शीलभद्रसूरि 'तृतीय' (वि०सं० १५७७)
प्रतिमालेख

जयकलश एवं जयकुशल
(कातंत्रव्याकरणदौर्गासिंहवृत्तिअवचूर्णि की
प्रशस्ति में लिपिकार के रूप में उल्लिखित)

इस प्रकार साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर विक्रम संवत् की चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से लेकर वि० संवत् की सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण (लगभग २५० वर्षों तक) हारीजगच्छ की विद्यमानता सिद्ध होती है। शीलभद्रसूरि 'प्रथम' और शीलभद्रसूरि 'द्वितीय' तथा महेश्वरसूरि इस गच्छ के अन्य मुनिजनों की अपेक्षा विशेष प्रभावशाली प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके द्वारा प्रतिष्ठापित कई जिनप्रतिमायें मिली हैं। विक्रम संवत् की १६वीं शती के पश्चात् इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की दुर्लभता को देखते हुए यह माना जा सकता है कि इसके पश्चात् इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया होगा। यह गच्छ कब, किस कारण एवं किस गच्छ या कुल से अस्तित्व में आया, इसके आदिम आचार्य कौन थे ? साक्ष्यों के अभाव में ये सभी प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

संदर्भ

१. रसिकलाल छोटालाल परीख एवं हरिप्रसाद गंगाशंकर शास्त्री, गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग १, अहमदाबाद, १९७२ ई० स०, पृष्ठ ३७३.
२. श्री अमृतलाल मगनलाल शाह, संपा० श्रीप्रशस्तिसंग्रह, श्री जैन साहित्य प्रदर्शन, श्री देशविरति धर्माजक समाज, अहमदाबाद, वि० सं० १९९३, भाग २, पृष्ठ ५७; प्रशस्ति क्रमांक २२६.
३. वहीं, पृष्ठ ५७, प्रशस्ति क्रमांक २२६.

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी — ५





समकालीन जैन समाज में नारी

डॉ० प्रतिभा जैन*

भारतीय संस्कृति के निर्माण में नारी समाज ने प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। नारी के कारण समय-समय पर संस्कृति का रूप भी परिवर्तित हुआ है। उसे कभी पुरुष के समान माना गया है तो कभी भोग-विलास की वस्तु मात्र।

भारतीय संस्कृति मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त की जाती है — वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति। सहस्रों वर्ष पूर्व जब अधिक भू-भाग में अज्ञान-अन्धकार व्याप्त था, उस समय भारत में पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी वेद-मन्त्रों की रचना में संलग्न थीं। भगवान बुद्ध ने भी नारी को पुरुषों के समान धर्म पालने का अधिकारी माना था किन्तु, साथ में वे यह चाहते थे कि स्त्रियाँ अपने इस अधिकार का प्रयोग घर में रहकर उपासिका के रूप में करें। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्ध, सैद्धान्तिक दृष्टि से स्त्री एवं पुरुष में धर्माचरण करने की समान क्षमता स्वीकार करते थे किन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से वे स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने के पक्ष में नहीं थे। इससे भिन्न, जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि महावीर ने नारी के लिये भी साधना का मार्ग खोला। अपने चतुर्विध संघ की संरचना में उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को यथायोग्य स्थान दिया। उस समय नारियों को न केवल गार्हस्थ्य अवस्था में पुरुषों के समान धर्माचरण करने का अधिकार था अपितु भिक्षुणी बनने में उन पर संघ की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इतना ही नहीं अपितु श्वेताम्बर जैन मान्यता के अनुसार स्त्री भी तीर्थङ्कर बन सकती थी। मल्ली ने स्त्री होते हुए भी तीर्थङ्कर पदवी प्राप्त की थी। जैन युग में स्त्रियों को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से धार्मिक क्षेत्र में पुरुषों के समान माना जाता था।

वैदिक मान्यताओं के अनुसार नारी बिना यह सम्पूर्ण विश्व सार शून्य है। वस्तुतः कन्या का अर्थ ही होता है — जिसकी सब कामना करें।^१ जैनागमों में भी नारी की महत्ता बताते हुए कहा है कि नारी के बिना सृष्टि की रचना, समाज का संगठन, गार्हस्थ्य कार्य-कलाप एवं गृहस्थ जीवन अधूरे हैं। विश्व की समस्त विभूतियों में अर्धांश नारी का है।^२ नारी को श्रेष्ठतर अर्धांगी कहा है। नर श्रम है और नारी उसका विश्राम। नर नाव है, नारी उसकी पतवार। नर अंश है, नारी उसकी पूरक। नर पुष्प है, नारी उसका सौरभ।^३ नर की शक्ति भी नारी है। नारी की विवेक व कार्यदक्षता के लिये स्मृतियों में लिखा है कि नारियों में चौगुनी बुद्धि होती है तथा कार्यदक्षता छः गुनी होती है।

कार्येषु मन्त्री वचनेषु दासी, भोज्येषु माता, शयनेषु स्म्भा।

धर्मानुकूला क्षमयाधरित्री षड्भिगुणैः स्त्री कुलतारिणी स्यात्।^{१६}

नारी एक ओर ममता का सागर उड़ेलती हुई माता के वंश में आती है तो दूसरी ओर वात्सल्य मूर्ति भगिनी के रूप में। एक तरफ वह चतुर सलाहकार मंत्री है तो दूसरी तरफ वह स्नेहभरी अर्धाङ्गिनी। धर्मकार्य में आगे रहकर अपने सरल स्वभाव से कुल में सबके मन को मोहती है। अपनी विविध भूमिकाओं के कारण वह एक होकर भी अनेकवत् प्रतीत होती है। जिस प्रकार केन्द्र में रखी हुई कोई वस्तु दिशा भेद से पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण में दिखाई देती है, इसी प्रकार एक स्त्री किसी की पत्नी होते हुए माता, भगिनी, मंत्री और दासी हो सकती है।^{१७}

विश्व इतिहास की पृष्ठभूमि पर भारतीय आर्य ललनाओं का जीवन प्रत्येक क्षेत्र में ज्योतिर्मय दृष्टिगत होता है तभी तो साधु सन्तों ने मुक्त कण्ठ से उसे नारी नर की खान, धर्म की शान कह कर पुकारा है।^{१८} यद्यपि स्वभाव से नारी धर्म की जननी है, खान है। धर्म के नेता सर्वज्ञ हैं और उस सर्वज्ञ रूप की जन्मदात्री माँ — नारी है। सुभाषितसन्दोह में लिखा है — 'स्त्री की कुक्षि से तीन लोक के स्वामी तीर्थङ्कर उत्पन्न होते हैं।' तीर्थङ्करों के सदुपदेशों से धर्म तीर्थ की उत्पत्ति तथा सन्मार्ग का ज्ञान होता है। भव्य प्राणी सन्मार्ग में लगकर आत्म-कल्याण करते हैं। ऐसे तीर्थङ्कर की जननी महिला किसी एक के द्वारा आदरणीय नहीं, अपितु समस्त विश्व के द्वारा पूजनीय है। 'भक्तामरस्तोत्र' में हृदयग्राही एक श्लोक है —

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्

नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।

सर्वा दिशो दधति भानि, सहस्ररश्मिं,

प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

अर्थात् हे भगवान ! सैकड़ों स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करती हैं, किन्तु जिस माँ ने आपको जन्म दिया वह तो उन सैकड़ों में से एक ही है। सभी दिशाओं में तारे उदय होते हैं किन्तु सहस्र किरणों से दीप्तिमान दिवाकर को तो पूर्व दिशा ही उत्पन्न करती है।

भारत की शोभा सतात्मा है। ऐसी महान विभूतियों को जन्म देने वाली नारी ही है। भगवतीसूत्र में लिखा है — 'हड्डी, नाखून एवं केश बालक को पिता की देन हैं तथा बुद्धि, रक्त एवं शरीर की सुदृढ़ता माता की देन है। माँ के रूप में महिलाएँ अपने बच्चों में स्वाभिमान, आत्म-सम्मान की भावना और धार्मिक भावना पैदा कर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। महान वैज्ञानिक थॉमस एडीसन जब आठ वर्ष के थे और प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे, उस समय उनके अध्यापक ने उन्हें एक चिट्ठी देकर घर भेज दिया। चिट्ठी माँ के नाम थी। उसमें लिखा था कि यह बच्चा पढ़ नहीं सकता। थॉमस को अपनी माँ के पास यह चिट्ठी ले जाते हुए बड़ी उलझन हो रही थी, लेकिन जब उनकी माँ ने वह चिट्ठी पढ़ी तो वे बोलीं — "बेटा! डरने की कोई बात नहीं है, मैं तुम्हें पढ़ा लूँगी।"

माँ की सहायता से थॉमस बहुत तेजी से पढ़ने लगे थे। बड़े होने पर जब उनसे पूछा गया कि वैज्ञानिक के रूप में आपकी सफलता का क्या रहस्य है तो थॉमस ने जबाब दिया कि मेरी माँ ने मुझ पर जो भरोसा किया था, उसी का यह प्रतिफल है।^१ इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द की माता उन्हें पालने में आत्मा का गीत सुनाती थीं, प्रति समय उन्हें आत्मा का बोध कराती थीं, क्योंकि उसके पीछे उनका एक ही ध्येय था कि बालक में धार्मिक संस्कार आ जाय और वह अपनी संस्कृति की सुरक्षा कर सके। महासती सीता ने भी अपने बच्चों (लव-कुश) को जंगल में जन्म देने के बाद भी उनके प्रत्येक संस्कार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसी शृंखला में हम महाभारत में माता कुंती की भूमिका को देखते हैं। कुंती ने अपने पाँचों पुत्र पांडवों को धार्मिक संस्कार से संस्कारित कर उन्हें विश्व के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसी प्रकार अनेक उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। जिसमें हम माँ कौशल्या, माँ यशोदा, सती त्रिशला आदि महिलाओं का योगदान भूल नहीं सकते, जिन्होंने अपने बच्चों पर ऐसे संस्कार डाले जिनके कारण आज पूरा विश्व उन बच्चों के साथ उनकी माँ को भी याद करने में नहीं चूकता है।^१ अर्थात् पुरुषों में प्रारम्भिक संस्कारों का बीज बोने वाली नारी है। अंग्रेजी में कहावत है — "A good mother is like hundred teachers" एक अच्छी माता सौ शिक्षकों के तुल्य है। शिक्षा संस्कार की जननी है। जिस प्रकार एक कुशल कारीगर अपने कौशल्य से चट्टान को भगवान बना सकता है, उसी प्रकार उत्तम योग्य शिक्षा मानव को भगवान बनाने में सक्षम है। माता का प्रभाव बच्चों पर बहुत गहरा पड़ता है। इसलिये महान स्वाधीनता संग्राम सेनानी सुभाषचन्द्र बोस कहते थे — "If you give me sixty good mothers, I will give you a good nation." बीज से अंकुरोत्पत्ति में जमीन, जल, वायु, प्रकाश-सूर्य की किरण आदि निमित्त आवश्यक हैं, उसी प्रकार गुण-दोषों के उत्पादन में मानव की सुशिक्षा साधनाभूत है। कैसा भी सुन्दर बीज क्यों न हो, यदि उपर्युक्त साधन अनुकूल नहीं होंगे तो वह यों ही बिना फल दिये नष्ट हो जायेगा। उसी प्रकार कुलीन, धर्मात्मा, सुयोग्य नारी जीवन की अनुकूल साधनविहीन होने पर विशीला, दुराचारिणी, कर्कशा आदि दुर्गुणों से युक्त होगी।^{१०}

मानव जीवन के विकास में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। नारी ने घर, परिवार, समाज और देश के उत्थान में हमेशा पुरुष को सहयोग प्रदान किया है। वीरता की दृष्टि से तलवारें भी उठाई हैं, राज्य शासन भी चलाया है। न जाने कितनी बार वीर माता एवं पत्नियों ने योद्धाओं का रूप धारण कर शत्रुओं के साथ महान युद्ध किया। अनेक महापुरुष ऐसे हुए जिन्होंने अपनी दूरदृष्टि से देखा कि बिना महिलाओं के सहयोग के भारत का उत्थान नहीं हो सकता, इसलिये उन सड़ी-गली प्रथाओं और रूढ़ियों पर प्रहार किया जो महिलाओं की प्रगति में बाधक थीं।^{११} इस प्रसंग में आधुनिक युग के राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि के नाम भुलाए नहीं जा सकते। स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जो भी आन्दोलन गांधीजी ने चलाए, उनमें स्त्रियों की

भूमिका महत्वपूर्ण रही। उन्होंने स्त्रियों में एक नया आत्म-विश्वास पैदा किया। गांधीजी ने नारी के लिये कहा “स्त्री साक्षात् त्याग की मूर्ति है। जब वह किसी काम में लग जाती है तो वह पर्वतों को भी हिला देती है।”^२ बापू के प्रत्येक कार्य में आगे बढ़कर भाग लेने वाली कस्तूरबा, नेहरू जी की पत्नी कमला, भारत कोकिला सरोजिनी नायडू^३ इन्दिरा गांधी, ब्रिटेन की मार्ग्रेट थैचर, फिलिपिन्स की एक्वीना, श्रीलंका की भंडारनायके आदि के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे।

जैन दर्शन एक विश्व दर्शन है। यह प्राणिमात्र का हितैषी, परम कल्याणकारक है तथा विश्व कल्याण का उद्देश्य अपने आप में संजोये हुए है। जिस दर्शन में तिर्यक् एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक को कल्याण का स्थान कहा है वहाँ स्त्री का स्थान क्या हो सकता है, अकथनीय है ?

जैसे सूर्य के बिना प्रकाश का अभाव है,
चन्द्र के बिना चाँदनी का अभाव है,
शील के बिना सतीत्व का अभाव है,
वैसे ही नारी बिना तीर्थङ्कर का अभाव है।^४

स्याद्वाद ही जिसका मूल सिद्धान्त है, ऐसे जैन दर्शन में नारी यदि बीज है तो तीर्थङ्कर उसका फल है। नारी यदि जड़ है तो मोक्ष उसका फल है, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिये किये गये सभी धार्मिक या मांगलिक कार्य इसके अभाव में अधूरे हैं। ज्ञान, कला, साहित्य, वैराग्य, दान पूजादिक समस्त मांगलिक कार्यों में इसका अपना विशिष्ट स्थान है। जैन धर्म की प्रमुख क्रिया पंचकल्याणक में भी स्त्री का ही स्थान आगे दिखलाया है, जैसे —

सर्वप्रथम धर्मशुद्धि की क्रिया होती है। भूमिशुद्धि हेतु मंगल कलश नारी ले जाती है और शुद्ध पानी से भूमि की शुद्धि करती है। द्वितीय क्रिया मुण्डारोहण की होती है। यहाँ भी मंगलकलश की स्थापना नारी के द्वारा ही की जाती है। तीसरी क्रिया अंकुश-रोपण भी नारी ही करती है। आगे की क्रिया गर्भकल्याणक है। गर्भकल्याणक क्रिया की प्रमुख नायिका नारी होती है, क्योंकि तीर्थङ्कर का गर्भस्थान भी नारी है। गर्भविस्था में माता की सेवा करने वाली भी नारी होती है। जन्मते ही प्रभु के सर्वप्रथम दर्शन की अधिकारी सोधर्म इन्द्र की इन्द्राणी है। कुमार तीर्थङ्कर जब युवावस्था को प्राप्त होते हैं तो विवाह के समय समस्त मांगलिक कार्य — कलश लेना, गीत गाना आदि भी नारी करती है। राजकुमार को शासन करते हुए बहुत समय बीतने पर स्वर्ग की देवी संसार की नश्वरता का ऐसा चित्र उपस्थित करती है कि उन्हें उसी समय वैराग्य हो जाता है और वे मुनि बन जाते हैं। मुनि बनकर आहार की चर्या के लिये निकलते हैं। उनकी उस चर्या की विधि को करने में मुख्य हाथ नारी का होता है। प्रभु के समवसरण में भी पुरुषों से तिगुनी नारियों की संख्या रहती थी। जैन दर्शन कहता है — नारी कुल की एक ऐसी चाँदनी है जो अपनी छटा से चारों ओर ज्योति फैलाती है।

जैसे —

चारित्र से साधु की शोभा होती है,
ज्ञान से पंडित की शोभा होती है,
विनय से शिष्य की शोभा होती है,
वैसे ही नारी से गृहस्थी की शोभा होती है।^{१०}

नारी संयम का पाठ पढ़ाने वाली संस्था है। आगम महान सतियों के इतिहास से भरा पड़ा है। समस्त मानव-जाति के कल्याणार्थ वैभव, विलास एवं पुरुष के शासन को टुकराकर संयमी जीवन के कटीले पथ पर नारियाँ निकल पड़ी थीं। सती स्त्रियाँ धर्म-पथ से विचलित नहीं होतीं। रावण के पास रहकर भी सीता ने पतिव्रत धर्म नहीं छोड़ा और जब श्रीरामचन्द्र ने लोकापवाद से सीता का परित्याग कर दिया व सेनापति कृतान्तवक्र उन्हें वन में छोड़कर आने लगा, तब सीता ने उसे जो उपदेश दिया वह चिरस्मरणीय है। उसने कहा—
“श्रीराम से कहना कि लोकोपवाद-भय से जैसे मुझे छोड़ दिया वैसे कभी धर्म का परित्याग न करें।”^{११}

स्त्रियाँ धर्म से कहीं अधिक निकट होती हैं। स्त्रियों के कोमल स्वभाव के कारण ही धर्म गतिमान होता आया है। भगवान महावीर के समय में अध्यात्म क्षेत्र में नारियों के बढ़ते कदम सक्रिय रूप से वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। सती अञ्जना, चन्दना, चैलना आदि अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने धर्म के पथ पर चलकर यह सिद्ध कर दिया कि धर्म के उत्तरदायित्व की स्वामिनी नारी भी है। नारी को दया, क्षमा, सहिष्णुता की एक अपूर्व मूर्ति कह सकते हैं। क्रूर से क्रूर प्राणी पर भी दया करना इसका स्वभाव है। सीता को जटायु और वन पक्षियों पर भी इस प्रकार की करुणा आती थी कि वह उनका भी पुत्रवत् पालन करती थी। नारी शास्त्रों का भी अध्ययन करती थी।

नारियाँ सदुपदेश द्वारा लोगों को सन्मार्ग पर लाती थीं और स्वयं दीक्षा लेकर अन्य स्त्रियाँ को भी दीक्षित करती थीं। बाहुबलि जी को मानरूपी ऐरावत गज से उतारने के लिये ब्राह्मी और सुन्दरी की भूमिका स्मरणीय है। रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास भी नारी की ही प्रेरणा से महान बने।^{१२}

नारी जीवन के साफल्य की कुंजी है — उसका स्वार्थ-त्याग, इन्द्रिय-निरोध, भोग-लिप्सा का परित्याग और कषायों की मन्दता। नारी का अभ्युदय मुख्यतः उसके शील धर्म में समाहृत है। शीलवती नारी के प्रभाव से सर्प हाररूप परिणित हो गया, अग्निकुण्ड जल सरोवर रूप परिणित हो गया अर्थात् कोई कार्य ऐसा नहीं जो नारी के लिये असम्भव है।^{१३}

सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक, धार्मिक, शिक्षण, कला, साहित्य, गायन, वादन आदि सभी क्षेत्रों में स्त्रियों ने अपनी शक्ति दिखाई है।^{१४} नारी के लिये कह सकते हैं — नारी जगत् की, प्रकृति-पुरुष की जन्मदात्री, घर की लक्ष्मी, शिक्षा की सरस्वती, संस्कार पालने में

अन्नपूर्णा, विज्ञान में मैडम क्यूरी, सती में सीता, शासन में लक्ष्मीबाई^{२२} धर्म में चंदनबाला, चेलना जैसी, धर्म-प्रचार में नेता और आत्मोत्थान में अजेय वीरांगना रही हैं। धर्म, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, त्याग, तपस्या, प्रेम, करुणा, सहानभूति, सेवा, श्रद्धा, समर्पण आदि गुणों से वह युक्त है। अतः नारी को देश, समाज, जाति, परिवार की नाड़ी कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जिस प्रकार हाथ की नाड़ी की गति से वात, पित्त, कफ आदि की समता, विषमता और देह की स्वस्थता या अस्वस्थता का अनुमान होता है वैसे ही घर की नारी के सफल मातृत्व, चरित्र, बल, सेवा, शील आदि गुणों से परिवार समाज आदि की नैतिकता आँकी जाती है।^{२३}

पर आज आधुनिक युग में विडम्बना ही विडम्बना है। पाश्चात्य देशों के बढ़ते हुए आकर्षण से भारतीय महिलाएँ पाश्चात्य सभ्यता की शिकार होती जा रही हैं। वे परिवार को श्रेष्ठ और पवित्र बनाने की अपेक्षा बाह्य काम-काजी होने की प्रेरणा ले रही हैं। उन्हें सीता के चरित्र से अधिक चित्रपट की तारिकाओं का रहन-सहन, वेश-भूषा, आचरण प्रलोभनीय लगने लगा है।^{२४} वर्तमानकालीन नारी अपनी शक्ति को खो बैठी है। भोग-लिप्सा में मगन हो गयी है। वस्त्राभूषण से शरीर को सुसज्जित करना विषय-वासनाओं में लिप्त रहना ही अपना कर्तव्य समझती है।

आज के युग में लोग सातवीं मंजिल पर अधिक हैं और फुटपाथों पर कम। किन्तु जो संस्कारों की सातवीं मंजिल पर हैं वे बहुत थोड़े हैं, नगण्य हैं और असंस्कृत लोग अधिक संख्या में महलों की सातवीं मंजिल पर हैं। इस लोक के व्यवहारों के प्रति राई-रती का हिसाब करने वाले परलोक के लिये कानी-कौड़ी नहीं जुटाते, यह आश्चर्य का विषय है। क्या स्त्री, क्या पुरुष सभी भौतिक प्रपंच वृद्धि के उपाय जुटाने के लिये रात-दिन दौड़ रहे हैं। कोई मोटर गाड़ी पर, कोई वायुयान में तो कोई फुटपाथ पर पैदल, किन्तु दौड़ सभी रहे हैं। किसी के पास बात करने का अवकाश नहीं। शरीर-यंत्र के पुर्जे रात-दिन घिस रहे हैं और लोग धीरे-धीरे रंग-मंच से उतर कर समाप्ति की ओर जा रहे हैं, किन्तु आत्म-अधिष्ठित पवित्र उद्देश्य के लिये समर्पित शरीर के पुर्जे उन हीन कोटि के उद्यमों में ही अविश्रान्त लगे रह कर क्यों समाप्त हो रहे हैं ? इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। अच्छे संस्कारों से वंचित होकर उनका जीवन अन्धे के समान बीत जाता है।^{२५}

मानव का विकास उन चारित्रिक गुणों से होता है, जिनकी शिक्षा व्यक्ति को माता के रूप में सर्वप्रथम नारी से मिलती है। गृहस्थ जीवन को संयमित करने में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जैन गृहस्थ जब अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय व ब्रह्मचर्य का मर्यादापूर्वक पालन करता है तब उसके मन में जीवन के प्रति सन्तोष जागृत होता है तब वह अपरिग्रही बनता है, अर्थात् चरित्र की सुरक्षा के लिये अपरिग्रही होना अनिवार्य है।^{२६} जैन शास्त्रों में परिग्रह को पाप बन्ध का मूल कारण कहा है। परिग्रहसूत्र में कहा गया है कि परिग्रह क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब पापों का केन्द्र है।^{२७} परिग्रह से तीन बुराइयाँ उत्पन्न होती

हैं — विषमता, विलासिता और क्रूरता। सन्तोष के सरोवर में ही सुख के फूल खिलते हैं, अतः नारी यदि चाहे तो पुरुष को अपरिग्रही बनाकर उपर्युक्त बुराइयों से भी बचा सकती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाती है। धर्म हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण शृंगार है जिसके बिना हमारा जीवन अधूरा है।^{१८} महिलाएँ यदि चाहें तो परिवार के प्रत्येक सदस्य को धार्मिक वातावरण के अनुरूप ढालकर संस्कृति को संवारने में अपना योगदान दे सकती हैं। जब परिवार का प्रत्येक सदस्य धर्म के संस्कार से संस्कारित हो जायेगा तो निश्चित ही समाज भी धार्मिक संस्कारों से परिपूर्ण हो जायेगा। आज भी हमारे देश में वे माताएँ हैं जिन्होंने आचार्य विद्यासागर, आचार्य चंदना जी, आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमति माताजी आदि जैन रत्नों को जन्म देकर बचपन में ही धर्म के संस्कार से संस्कारित कर संस्कृति की रक्षा के लिये अपने बच्चों को त्याग कर हमारे समाज के लिये बहुत बड़ा त्याग किया है।^{१९}

अतः भूत व वर्तमान की बात को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भविष्य में यदि धर्म और संस्कृति की रक्षा करनी है तो हमें सबमें धार्मिक संस्कार पैदा करना होगा जिससे जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार, उत्पीड़न, अन्धविश्वासों, कुरीतियों, दुष्ट प्रवृत्तियों आदि को निर्मूल कर ऐसे नवस्वर्णिम युग का नवनिर्माण हो सके, जिसमें आर्थिक असन्तुलन, राजनैतिक उत्पीड़न, सामाजिक कुरीतियों का कोई स्थान न हो।^{२०}

सन्दर्भ

१. बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, डॉ० कोमल चन्द्र जैन, पृ० १८४
२. नारी का चातुर्य, आर्यिका सुपाशर्वमती जी, पृ० १
३. हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, रविवारीय, १३ दिसम्बर, १९९२
४. महिला जागरण, मार्च-अप्रैल, १९८२, पृ० ३०
५. जैन जगत्, दिसम्बर, १८८१, पृ० ९
६. नारी वैभव, संकलन बा० ब्र० कु० आदेश जैन, पृ० ७३
७. जैन जगत्, दिसम्बर, १९८१, पृ० २३
८. जीवन साहित्य : मार्च ८२, पृ० ७६
९. दि० जैन महासमिति, १५-१-९२, पृ० ६
१०. नारी वैभव, ना० ब्र० कु० आदेश जैन, पृ० ४२ ।
११. वही, पृ० १०१
१२. वही, पृ० ४४
१३. जीवन साहित्य : अगस्त-सितम्बर १९८०, पृ० २९९
१४. वही, पृ० २९९-३००
१५. वही।
१६. महिला जागरण, मई-जून १९८२, पृ० ८

१७. जैन जगत्, अक्टूबर, १९८३, पृ० २३
१८. महिला जागरण : मई-जून, १९८२, पृ० १३
१९. जैन जगत्, अक्टूबर, ८३, पृ० २३
२०. महिला जागरण : सितम्बर-अक्टूबर, १९८२, पृ० २२
२१. जैन जगत् : अक्टूबर ८३, पृ० २३
२२. नारी वैभव : वा० ब्र० कु० आवेश जैन, पृ० १४८
२३. महिला जागरण, मार्च-अप्रैल ८२, पृ० ३०
२४. वही
२५. जैन जगत्, दिसम्बर ८१, पृ० २१
२६. वही, अप्रैल १९८६, पृ० २१
२७. वही, पृ० २२
२८. जैन शासन, सुमेरचंद दिवाकर, पृ० १५
२९. नारी आलोक, भाग २, पृ० १०५
३०. महिला जागरण, मार्च-अप्रैल १९८२, पृ० ३१

* प्रवक्ता, योध सिंह नामधारी महिला कॉलेज,
डालटनगंज (पलामू), बिहार।



कालचक्र

डॉ. धूपनाथ प्रसाद

यह कौन सा
कालचक्र चल रहा है प्रभु !
भेड़ बकरियों की तरह पलते हुए लोग
रात और दिन की मूल्यवत्ता खोकर
निशाचर की तरह
देश की आधी से अधिक आबादी
रेंग रही है —
बस स्टैण्डों पर
रेलवे स्टेशनों पर
पार्क में/पगडंडियों पर
ट्रेनों की गतिशीलता से जुड़कर
किस बेचैनी में भाग रही है —
देश की आधी से अधिक आबादी !

यह आपा-धापी —
एक दूसरे को मात करके/पछाड़ करके/ताड़ करके
भागने की बेचैनी में
कहाँ है समता का मूल्य ?
कैसे लागू होगा
अहिंसा का सिद्धान्त ?

कौन सा परिवेश प्रस्तुत होगा
शान्ति के लिए ?

हे प्रभु !

कब कोई महावीर
आयेंगे वैशाली गणतंत्र से
कब कोई बुद्ध
आयेंगे बोध गया से
दे जायेंगे फिर से त्रिवर्ग की परिभाषा
पंचमहाव्रत की प्रचलित होगी गाथा

हे प्रभु !

आज का प्रमादी पुरुष
तब समझेगा पुरुषार्थ की परिभाषा

यह कौन सा

कालचक्र चल रहा है प्रभु !

* छात्र, अहिंसा, शांति और मूल्यशिक्षा विभाग
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी — ५





ऐतिहासिक अध्ययन के जैन स्रोत और उनकी प्रामाणिकता : एक अध्ययन

(शोध सारांश)

असीम कुमार मित्र*

भारतीय इतिहास के प्रमुख आधारभूत स्रोतों में ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा के पश्चात् जैन परम्परा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में भारतीय इतिहास-लेखन के मुख्य स्रोत प्रायः ब्राह्मण परम्परा के ग्रंथ ही माने जाते रहे। जिन लेखकों ने प्रारम्भ में इतिहास-लेखन का कार्य किया, उन्होंने प्रायः इसी परम्परा को आधार बनाया, जैसे — वेद, ब्राह्मण (शतपथ आदि) ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत और मनुस्मृति। इन लेखकों ने अपने कथ्य को प्रमाणित करने के लिए विदेशी यात्रियों के विवरणों और उनके ग्रंथों का उपयोग किया, जिसमें मेगस्थनीज, वर्नियर, ट्रेवर्नियर, ह्वेनसांग आदि के यात्रा-वृत्तान्त और अरबी-फारसी के कुछ ग्रंथ मुख्य हैं। श्रमण-परम्परा के ऐतिहासिक स्रोतों की ओर लेखकों का ध्यान प्रारम्भ में कम ही गया, किन्तु मौर्यकालीन इतिहास के लिए पालि में रचित बौद्ध-साहित्य की उपयोगिता के कारण कुछ लेखकों ने बौद्ध-परम्परा के ग्रन्थों का ऐतिहासिक स्रोत के रूप में उपयोग किया। महापंडित राहुल जी की तिब्बत, चीन आदि देशों की यात्रा एवं वहाँ के तमाम ग्रंथों को भारत लाकर उनके अध्ययन-सम्पादन के प्रयासों के फलस्वरूप यहाँ के विद्वानों के समक्ष बौद्ध-स्रोतों के अध्ययन का नया द्वार खुला। उससे पूर्व तिब्बती साक्ष्यों का इतिहासलेखन में उपयोग करने वाले तारानाथ लामा ही एक प्रमुख प्रामाणिक व्यक्ति थे। बाद में अनेक लेखकों ने इस स्रोत का भरपूर उपयोग किया।

जैन स्रोतों की ओर विद्वानों का ध्यान और विलम्ब से गया। उसके कई कारणों में एक प्रमुख कारण ग्रन्थ-भण्डारों में प्रवेश की समस्या रही, जो अब क्रमशः सरल होती जा रही है और परिणामस्वरूप इतनी सामग्री सामने आ चुकी है कि उसका वैज्ञानिक अध्ययन कर ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में प्रयोग अत्यन्त उपादेय होगा। इस विशाल साहित्य का प्रथम परिचय देने का श्रेय अंग्रेज विद्वान कॉबेल को है, जिसने सन् १८४५ में वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' को सम्पादित कर प्रकाशित करवाया। तत्पश्चात् जर्मन विद्वान पिशेल और हर्मन-याकोबी ने विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं के साथ विमलसूरिकृत पउमचरिय, हरिभद्रकृत समराइच्चकहा, हेमचन्द्र के व्याकरण, परिशिष्ट-पर्वन् आदि ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण प्रकाशित किये। इससे जैन ग्रन्थों के ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन की विपुल सम्भावना का

लोगों को अनुमान हुआ। इन विद्वानों के प्रयासों से अनेक भारतीय विद्वान् भी इस ओर आकृष्ट हुए जिनमें प्रो० हीरालाल जैन, ए० एन० उपाध्ये, नाथूराम प्रेमी, मुनि पुण्यविजय, मुनि जिनविजय, अगरचंद नाहटा, एच० सी० भयाणी, आदि विद्वान प्रमुख हैं।

भारतीय इतिहास की व्याख्या अथवा लेखन की दृष्टि से वैदिक और बौद्ध स्रोतों का जितना उपयोग विद्वानों ने किया है उसकी तुलना में जैन स्रोतों का उपयोग फिर भी कम हुआ। सी० एच० फिलिप्स ने 'हिस्टोरियेन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान एण्ड सिलोन' में वैदिक परम्परा के अलावा बौद्धों, चारणों, सिंहलियों और तमिलों के इतिहास-लेखन की चर्चा की है। उसके बाद मध्यकाल (मुस्लिम इतिहास-लेखन) और आधुनिक-काल के देशी-विदेशी इतिहासकारों पर अनेक लेख संकलित किये गये हैं, परन्तु प्रायः ५०० पृष्ठों की इस पुस्तक में जैन ऐतिहासिक स्रोतों एवं जैन इतिहासकारों पर एक भी स्वतंत्र लेख सम्मिलित नहीं किया गया है। इसी प्रकार ए० के० बॉर्डर ने 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन हिस्ट्रियोग्राफी' में बाण, वाक्पतिराज, पद्मगुप्त, कल्हण आदि के साथ जैन ऐतिहासिक स्रोतों का अति संक्षिप्त परिचय दिया है, किन्तु उसे भी विक्रमादित्य और उसकी तिथि का निर्धारण करने के लिए ही सम्मिलित किया गया है। डॉ० वी० एस० पाठक ने अपनी पुस्तक 'एन्शियेंट हिस्टोरियेन्स ऑफ इण्डिया' में बाण, कल्हण, बिल्हण, सोमेश्वर और जयानक को प्राचीन भारतीय इतिहासकारों के रूप में गिना है, जिसमें एक भी जैन इतिहासकार नहीं है। यही स्थिति कम ज्यादा आज भी बनी हुई है। डॉ० परमानन्द सिंह ने अपनी पुस्तक 'इतिहासदर्शन' में प्राचीन इतिहासकारों के रूप में भीष्म, शुक्र, बाण, कल्हण, बिल्हण और जयानक की चर्चा की है, किन्तु इसमें भी किसी जैन लेखक को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस प्रकार इतिहास के प्रसिद्ध विद्वानों की उपेक्षा और उदासीनता के कारण जैन ऐतिहासिक स्रोतों का समुचित उपयोग नहीं हो पाया है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जैन ऐतिहासिक स्रोतों का इतिहास-लेखन में उपयोग ही नहीं हुआ है। अनेक विद्वानों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। इसमें डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियेंट इण्डिया' में जैन-स्रोतों के आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण-समस्याओं पर सम्यक् प्रकाश डाला। इसी प्रकार डॉ० गुलाबचन्द चौधरी ने 'पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नॉर्दन इण्डिया फ्रॉम जैन सोर्सेज' में जैन स्रोतों के आधार पर उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास को प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रो० के० डी० बाजपेयी ने 'भारतीय व्यापार के इतिहास' में आर्थिक इतिहास-लेखन में जैन-स्रोतों का भी उपयोग किया है। डॉ० जगदीशचंद्र जैन की पुस्तक 'लाइफ इन ऐन्शियेंट इण्डिया ऐज डिपिकटेड इन जैन कैनॉन्स' में जैन आगमों के आधार पर प्राचीन भारतीय समाज का वर्णन किया गया है। इन पुस्तकों में विद्वानों लेखकों ने इतिहास के किसी एक ही पक्ष को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इसी प्रकार जैन ऐतिहासिक स्रोतों का किसी पक्ष विशेष के

अध्ययन में आंशिक रूप से उपयोग तो कुछ लेखकों और शोधकर्ताओं ने अवश्य किया है यथा — देवीप्रसाद मिश्र ने जैन पुराणों का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० हरिहर सिंह पश्चिम भारत के जैन मन्दिरों पर और डॉ० कमल जैन ने जैन स्रोतों के आधार पर आर्थिक इतिहास लिखा है। इसी क्रम में डॉ० कुमुद गिरि ने जैन महापुराणों के कलापक्ष पर तथा डॉ० श्रीनारायण दूबे ने जैन अभिलेखों पर इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके अतिरिक्त पुराण, चरित, प्रबन्ध आदि के स्वतंत्र ग्रन्थों पर भी कार्य हुआ है, किन्तु ये सभी प्रयास किन्हीं विशिष्ट पक्षों को लेकर ही हुए हैं। समग्र जैन ऐतिहासिक स्रोतों का एकत्र अध्ययन होना अभी भी शेष था। दूसरे अनेक ऐतिहासिक स्रोत अभी भी ऐसे हैं जिनके अध्ययन का प्रयत्न ही नहीं हुआ है जैसे — विज्ञप्तिपत्र आदि। इस प्रकार जैन ऐतिहासिक स्रोतों के अध्ययन, विश्लेषण और प्रमाणीकरण की आवश्यकता अभी बनी हुई थी। इसीलिए हमने इस दिशा में शोध-कार्य करने का विनम्र प्रयत्न किया है।

जैन ऐतिहासिक स्रोतों में आगम, आगमिक व्याख्या (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि), पुराण एवं चरित काव्य, प्रबन्ध, ग्रन्थप्रशस्ति, प्रशस्ति, पट्टावली, वंशावली, विज्ञप्तिपत्र और अभिलेख महत्वपूर्ण हैं। अन्य भारतीय ऐतिहासिक स्रोतों की तरह ही जैन परम्परा के ग्रंथ भी इतिहास की आधुनिक अवधारणा की कसौटी पर पूर्णतया खरे नहीं उतरते क्योंकि उनमें इतिहास के साथ-साथ कल्पना का भी अंश होता है। इसी कारण आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने यह धारणा बना ली कि भारतीय इतिहास-लेखन में रुचि नहीं रखते थे, किन्तु इसका कारण हमारी इतिहास की भिन्न अवधारणा है। आज हम इतिहास को राजनैतिक इतिहास ही मानते हैं, धार्मिक इतिहास को इतिहास नहीं मानते। भारतवर्ष में इतिहास को पंचम वेद माना गया है और कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजाओं के लिए इतिहास के अध्ययन को उनकी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बताया है। यह अवश्य है कि हमारे ऐतिहासिक या पौराणिक ग्रन्थों में काव्य-तत्त्वों या कल्पना-तत्त्व की प्रधानता रही और ऐतिहासिक तथ्य गौण रहे। प्रायः लेखक अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली बखानते थे और ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करके भी प्रतिपक्षी को अपने नायक की तुलना में हीन बताते, जिसके कारण कहीं-कहीं ऐतिहासिक तथ्यों, व्यक्तियों और तिथियों में व्यतिक्रम भी मिलता है।

अन्य परम्पराओं के समान जैन परम्परा के स्रोतों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। उदाहरण के रूप में यदि महावीर के जीवन-चरित को ही लिया जाय तो आचारारम्भ के प्रथम श्रुतस्कन्ध से लेकर कल्पसूत्र, निर्युक्तियों, भाष्य और चूर्णियों तक आते-आते उसमें कल्पना और अलौकिकता का प्रवेश इतना ज्यादा हो गया कि वे अलौकिक बन गये और उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व गौण हो गया। किन्तु मात्र इन्हीं कारणों से समस्त जैन ऐतिहासिक स्रोतों को कपोल-कल्पित और अप्रामाणिक कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैनो के पास उनकी स्वयं की इतिहास सम्बन्धी अवधारणा है जिसके आधार पर

उन्होंने अपने विस्तृत वाङ्मय में इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान की हैं। कुछ ग्रन्थों में अति प्राचीनकाल के सार्वभौम सम्राटों का नाम और काल बताया गया है तथा अनेक प्राचीन मनुओं का भी उल्लेख किया गया है जो अधिकांशः हिन्दू पुराणों में उल्लिखित सूचनाओं से मेल खाता है। प्राचीन जैन-परम्परा संसार तथा समाज के चक्रीय उत्थान-पतन की प्रक्रिया को स्वीकार करती है जिसमें उत्थान और पतन दोनों स्थान पाते हैं। उन्होंने विभिन्न कल्पों को आरों में विभक्त करके उत्थान और पतन का इतिहास दर्शाया है। किसी अति-मानवीय सत्ता में विश्वास न होने से वे उस प्रक्रिया को स्वतः गतिशील मानते हैं। वे भारत का इतिहास उस काल से प्रारम्भ करते हैं जब मानव-जीवन में कोई सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था नहीं थी। लोग हर प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, नैतिक या राजनीतिक आग्रहों से मुक्त थे और जीवनयापन के लिए पूर्णतया प्रकृति की देन (कल्पवृक्षों) पर आश्रित थे। उस आदर्श व्यवस्था में कालान्तर में अनेक विकृतियाँ आ गयीं। तब तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने पुनः सामाजिक व्यवस्था स्थापित की। उन्होंने कृषि, लेखन, युद्ध, प्रशासन, राज्य-व्यवस्था आदि के क्षेत्रों में मनुष्य का मार्गदर्शन किया। उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर यह देश भारत कहलाया। यहीं से जैन लोग नवीन युग का प्रारम्भ मानते हैं। जैन ऐतिहासिक स्रोत की महत्त्वपूर्ण शाखाएँ जैसे — आगम, आगमिक व्याख्या साहित्य, पुराण, चरित-ग्रंथ, ऐतिहासिक काव्य, प्रबन्ध, प्रशस्ति, अभिलेख आदि में जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई है वह अलग-अलग स्वतंत्र शोधों का विषय है और एक ही शोध-प्रबन्ध में आगम काल से लेकर आज तक के इन तमाम ऐतिहासिक स्रोतों को समेटना सम्भव नहीं था। इस लिये समग्र ऐतिहासिक स्रोतों का एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए जहाँ एक ओर यह आवश्यक था कि इन सबका एकत्र रूप से अध्ययन किया जाय और भारतीय इतिहास-लेखन में जैन स्रोतों के महत्त्व को रेखांकित किया जाय वहीं यह भी ध्यान रखना आवश्यक था कि शोध-प्रबन्ध में तथ्यों के विश्लेषण और प्रमाणीकरण के लिए अवकाश रहे, वह केवल संकलन होकर न रह जाय। इसलिए हमने अपने अध्ययन की सीमा १४ वीं शताब्दी ईस्वी तक ही रखी है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो आगमों से लेकर जैन प्रबन्धों के काल तक अर्थात् दूसरी-तीसरी शती से १४-१५ वीं शती तक ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध होते हैं।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस विपुल सामग्री को इस शोध-प्रबन्ध में निम्नलिखित आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है —

‘ऐतिहासिक अध्ययन के प्रमुख जैन स्रोत’ नामक प्रथम अध्याय में समस्त जैन स्रोतों को दो प्रमुख वर्गों में बाँटा गया है — (१) साहित्यिक स्रोत और (२) पुरातात्विक स्रोत। पुनः साहित्यिक स्रोतों को आगम, आगमिक व्याख्या साहित्य (नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका ग्रंथ आदि), पुराण एवं चरित-काव्य, प्रबन्ध-साहित्य, पट्टावली (नंदीसंघ पट्टावली आदि) स्थविरावली (हिमवंत आदि), प्रशस्ति, ग्रंथ-प्रशस्ति, विज्ञप्ति-पत्र, तीर्थमालाएँ,

स्तवन और सनद-पत्र आदि उपवर्गों में रखकर उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

पुरातात्त्विक स्रोत के रूप में विविध प्रकार के अभिलेखों का अध्ययन किया है जो तत्कालीन इतिहास एवं सांस्कृतिक लेखन के सर्वाधिक प्रामाणिक साक्ष्य हैं।

‘आगम और आगमिक व्याख्या-साहित्य में उपलब्ध सूचना’ नामक दूसरे अध्याय में प्रमुख जैन आगमों (श्वेताम्बर मान्य), आगमों पर रचित आगमिक व्याख्याओं आदि का अनुशीलन किया गया है। इसमें से कुछ प्रमुख ग्रंथों से प्राप्त ऐतिहासिक महत्त्व या जैनधर्म के इतिहास से सम्बन्धित सूचनाओं का विश्लेषण किया गया है। कारण कि ४५ आगमों और उन रचित शताधिक व्याख्या-ग्रन्थों को एक ही अध्याय में संकलित कर उनका विश्लेषण कर पाना सम्भव नहीं था। अतः हमने कुछ प्रमुख ग्रन्थों को ही चुना, शेष का उल्लेखमात्र कर दिया है। जैन-आगमों में कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। आगमों में प्राचीनतम ग्रंथ **आचाराङ्ग** (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) में महावीर के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का वर्णन है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** (ई० पू० प्रथम शताब्दी) में इनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया जाता है, जिससे महावीर सम्बन्धी इतिहास के कथानक में परिवर्तन होता है जिसका परिपाक **जिनचरित्र** (कल्पसूत्र का एक भाग) में होता है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में प्राचीन काल-चक्र का इतिहास वर्णित है। **स्थानाङ्ग** में भारत में वर्तमान युग के सर्वभौम सम्राटों का वर्णन मिलता है। **समवायाङ्ग** (एक प्रकार से स्थानाङ्ग का परिशिष्ट) में मनुओं का आरम्भ पूर्ववर्ती युग से अनुसृत किया गया है। **नन्दीसूत्र**, **कल्पसूत्र** और **आवश्यकसूत्र** में जैन आचार्यों की सूची दी हुई है, जो जैनधर्म के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है।

‘पुराण एवं चरित काव्यों में उपलब्ध ऐतिहासिक सूचना’ नामक तीसरे अध्याय में प्रमुख जैन पुराणों एवं चरित ग्रन्थों में वर्णित सूचनाओं का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय में इन ग्रन्थों का वर्णन कालक्रम के अनुसार किया गया है। इसमें प्रबन्ध साहित्य के अतिरिक्त जो भी ग्रन्थ हैं — जैसे ऐतिहासिक काव्य, पुराण ग्रंथ आदि उन्हें शामिल किया गया है। विमलसूरि कृत **पउमचरिय** (ई० सन् प्रथम) में राम की कथा भिन्न रूप से प्राप्त होती है। इसके अनुसार रावण एक विद्याधर था जो अतिमानवीय शक्तियाँ अर्जित कर देवताओं का प्रतिस्पर्धी बन गया था। वह धार्मिक दृष्टि से जैन था, किन्तु वह इतना मूर्ख था कि राम की पत्नी का अपहरण किया। इसमें यह बताया गया है कि वास्तविक राक्षस तो वे हैं जो पशु-बलि का अनुष्ठान करते हैं। यह ग्रन्थ तत्कालीन अवस्था का भी पूर्ण चित्रण करता है, साथ ही इसमें कई प्रमुख वंशों, उसकी उत्पत्ति तथा उस वंश के प्रमुख व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमें वाकाटक युग की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक सामग्री मिलती है। यह वर्णन प्रायः ब्राह्मण स्रोतों में भी प्राप्त होता है। पुरातन आख्यानों पर आधारित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संघदास का **वसुदेवहिण्डी** (वसुदेव का भ्रमण) है। इसमें इतिहास को एक नया रूप दे दिया गया है। सत्कर्मों और दुष्कर्मों के परिणाम को दर्शाकर कथानकों को उपदेशपरक बनाया गया है। जिनसेन का **हरिवंशपुराण**, **महाभारत** की कथा का सबसे प्रसिद्ध

रूपान्तर है। यह ग्रंथ जैनधर्म का इतिहास तो प्रस्तुत करता ही है साथ ही साथ इसमें अवन्ति का इतिहास तथा महावीर से लेकर गुप्तों तक का विवरण मिलता है। इसकी प्रशस्ति में ग्रन्थ का काल और तत्कालीन प्रमुख राजाओं का वर्णन किया गया है जिससे ग्रन्थ का महत्व बढ़ जाता है। इस ग्रंथ में महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की अविच्छिन्न गुरु-परम्परा का उल्लेख है जो श्रुतावतार आदि अन्य ग्रंथों में मिलता है किन्तु उसके बाद की गुरु-परम्परा इस ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं प्राप्त होती है। इसलिए इसका जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व है। इसमें प्रमुख वंशों और उसके राजाओं का वर्णन भी मिलता है। हेमचंद्र ने त्रि० श० पु० च० में ६३ महापुरुषों का चरित प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का महावीर चरित अत्यन्त उपयोगी है। **परिशिष्टपर्वन्** मौर्यकाल तक के मगध के राजाओं का काल सहित उल्लेख करता है जो भारतीय काल-गणना की दृष्टि से उपयोगी है। गुर्जर देश के इतिहास को प्रस्तुत करने वाले जैन स्रोत के रूप में द्वयाश्रय महाकाव्य **कुमारपालचरित** (हेमचंद्र), **कुमारपालप्रतिबोध** (सोमप्रभ), **कीर्ति-कौमुदी** (सोमेश्वर) एवं **सुकृतसंकीर्तन** (अरिसिंह) मुख्य ग्रंथ है। सोमेश्वर ने **कीर्ति-कौमुदी** में वस्तुपाल के जीवन-चरित के साथ चौलुक्यों के इतिहास को आमुख के रूप में दे दिया है। इन जैन ग्रंथों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ नवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती ग्रन्थ भारत के सामान्य इतिहास से सम्बद्ध हैं और प्रायः भिन्न-भिन्न प्रदेशों का इतिहास वर्णित करते हैं जिनमें मगध के राजवंश, सातवाहनवंश, शकवंश, गुप्त-वंश तथा कान्यकुब्ज वंश मुख्य हैं। वहीं ९ वीं शती से बाद के ग्रन्थ पश्चिम भारत पर प्रमुख रूप से केन्द्रित हो जाते हैं और वे मालवा, राजस्थान और विशेष रूप से गुजरात का ही इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

चतुर्थ अध्याय में 'जैन प्रबन्धों' का अध्ययन किया गया है। जैन साहित्य में प्रबन्ध सरल संस्कृत गद्य-पद्य में लिखा ऐतिहासिक अर्द्ध-ऐतिहासिक कथानक है जो शासक, उससे सम्बद्ध किसी घटना या किसी तीर्थ आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य पर लिखे गये हैं। इस अध्याय में हमने चार मुख्य प्रबन्धों — प्रभाचन्द्र कृत **प्रभावकचरित**, मेरुतुंगकृत **प्रबन्ध-चिन्तामणि**, राजशेखर कृत **प्रबन्धकोश** और पुरातनप्रबन्धसंग्रह को ही लिया है। इन प्रबन्धों में सर्वाधिक द्रष्टव्य **प्रभावकचरित** है, जो कि सातवाहन, विक्रमादित्य, हर्ष तथा कान्यकुब्ज के यशोवर्मन, नागभट्ट, भोज तथा धर्मपाल का उल्लेख करता है। वस्तुतः प्रभाचन्द्र की रुचि उन प्रसिद्ध जैन आचार्यों के कथानकों में है जो इन राजाओं से सम्बद्ध समझे जाते हैं। **प्रबन्धचिन्तामणि** में मेरुतुंग, विक्रमादित्य, सातवाहन एवं भोज प्रथम से सम्बन्धित कथानकों का वर्णन करता है, तत्पश्चात् चापोत्कटों से आरम्भ कर गुर्जर इतिहास का विस्तृत विवरण देता है। इसमें अरबों द्वारा वलभीभंग का वर्णन महत्वपूर्ण है जो अन्यत्र एकाध स्थलों पर ही मिलता है। इसी प्रकार **प्रबन्धकोश** और **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** में भी अनेक ऐतिहासिक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

'अन्य साहित्यिक स्रोत' नामक पाँचवें अध्याय में प्रशस्ति, पट्टावली, स्थविरावली,

गुर्वावली, वंशावली, विज्ञप्तिपत्र, तीर्थमालाएँ एवं तीर्थस्तवन आदि से प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक सूचनाओं को दर्शाया गया है। प्रशस्तियों के विषय प्रायः इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति होते थे। इन प्रशस्तियों में हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति, पुलकेशिन् द्वितीय का ऐहोल प्रशस्ति, कुमारपाल की वड़नगर-प्रशस्ति प्रमुख है। पट्टावलियों में गुरु-शिष्य परम्परा का वर्णन किया गया है। **कल्पसूत्र** में वर्णित पट्टावली जिसमें जैनसंघ का प्राचीनतम इतिहास है, का समर्थन मथुरा से प्राप्त प्रतिमालेखों से होने से यह पट्टावली प्रामाणिक कही जा सकती है। जिनपाल उपाध्याय के **खरतरगच्छ-बृहद्-गुर्वावली** से अर्णोराज, पृथ्वीराज, समरासिंह तथा कुतुबुद्दीन के बारे में भी सूचना मिलती है। दरबारी चारणों द्वारा राजघराने की वंशावलियाँ लिखी जाती थीं। वंशों के ये इतिहास पूरी प्रामाणिकता के साथ संरक्षित किये जाते थे। जैन आचार्यों को भेजा गया निमन्त्रण पत्र विज्ञप्ति पत्र (विनति पत्र) कहलाता था। इन विज्ञप्ति पत्रों से उस काल के राजा, सम्बन्धित नगर आदि के विषय में जानकारी मिलती है। इनमें सांस्कृतिक ब्योरा होने से सामाजिक इतिहास की दृष्टि से ये विशेष उपयोगी हैं। तीर्थमालाओं में जैन मुनियों ने धर्म यात्राओं के विवरण लिखे हैं। इनमें विविध तीर्थों का इतिहास और उससे सम्बन्धित अन्य सूचनाएँ होती हैं। आचार्य मदनकीर्ति कृत **'शासन चतुस्त्रिंशिका** (१३ वीं शती) में धारा के परमार नरेश जैतुंगिदेव के समय मालवा पर हुए मुस्लिम आक्रमण का उल्लेख मिलने से इसका ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्व है।

'अभिलेखीय स्रोतों में उपलब्ध ऐतिहासिक सूचनाएँ' नामक छठे अध्याय में पुरातात्विक सामग्री — शिलालेख, प्रतिमालेख और विविध प्रकार के अभिलेखों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण कर उनका साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर मूल्यांकन किया गया है। जैन अभिलेखों में प्रायः समकालीन घटनाओं का उल्लेख होने तथा परिवर्द्धन-परिवर्तन कम होने से इनकी प्रामाणिकता में सन्देह कम किया जा सकता है। ये अभिलेख विभिन्न अवसरों पर उत्कीर्ण कराए गये हैं, जिसके आधार पर इन्हें निम्न वर्गों में रखा जा सकता है— (१) ऐतिहासिक लेख या राजनैतिक अभिलेख, (२) प्रतिमालेख, (३) मन्दिर व स्मारक सम्बन्धी, (४) तीर्थयात्रा या धर्मयात्रा सम्बन्धी और (५) अनुदान सम्बन्धी एवं विविध लेख।

इन जैन अभिलेखों से भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। कुछ अभिलेख तो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके अभाव में कुछ राजवंशों एवं राजाओं का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। कच्छघातों के ग्वालियर और दूबकुण्ड शाखाओं तथा राष्ट्रकूटों के हाथुण्डी शाखा के इतिहास के एकमात्र स्रोत जैन अभिलेख ही हैं। दूबकुण्ड से प्राप्त जिन-मन्दिर शासनपत्र में कच्छपद्म वंश के राजाओं का परिचय मिलता है। इसी प्रकार जैन सम्राट खारवेल तो अपने हाथीगुफा अभिलेख के द्वारा ही जाना जाता है। इस अभिलेख में चेदि-वंशीय खारवेल के कुमारवस्था (१५ वर्ष तक) के बाद ९ वर्ष तक युवराज की भाँति शासन करने का उल्लेख है। २४ वें वर्ष में सिंहासनारूढ़ होने का वर्णन है। इसके बाद

राज्याभिषेक के प्रथम वर्ष से लेकर १३ वें वर्ष तक की उसकी विजयों एवं अन्य कार्यों का वर्ष दर वर्ष वर्णन किया गया है। इतना ब्यौरैवार वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है। अन्य महत्वपूर्ण अभिलेखों में चालुक्य नरेश पुलकेशिन द्वितीय का रविकीर्ति रचित शिलालेख, हाथुण्डी के धवल राष्ट्रकूट का बीजापुर अभिलेख, जयमंगलसूरि कृत चाचिंग-चाहमान का सुन्धापर्वत अभिलेख तथा कक्क का घटियाला प्रस्तर लेख प्रमुख है। इन अभिलेखों से गंग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल, चेदि, होयसल, कच्छपघात आदि राजवंशों का परिचय प्राप्त होता है, साथ ही सांस्कृतिक अवस्था का भी परिचय मिलता है। मथुरा से प्राप्त अभिलेख जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

‘जैन-इतिहासकार’ नामक सातवें अध्याय में सर्वप्रथम इतिहास की प्राचीन और नवीन अवधारणाओं को प्रस्तुत करते हुए यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि अन्य प्राचीन भारतीय लेखकों की तरह जैन रचनाकार भी इतिहास सम्बन्धी भिन्न अवधारणा के चलते वर्तमान में समझा जाने वाला इतिहास-ग्रन्थ तो नहीं लिखे किन्तु उनके ग्रन्थों से पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इसलिए वे इतिहासलेखन के पर्याप्त प्रामाणिक स्रोत अवश्य हैं। जैन इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में प्रायः समय और स्थान का उल्लेख किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने कुछ ग्रन्थों में तत्कालीन प्रमुख राजाओं का भी वर्णन किया है, जो उनके इतिहास-बुद्धि का परिचय देते हैं। इस अध्याय में सात प्रमुख इतिहासकारों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है — भद्रबाहु (कल्पसूत्र), जिनसेन (हरिवंशपुराण), यतिवृषभ (तिलोयपण्णत्ति), हेमचन्द्र (परिशिष्टपर्वन् व द्वयाश्रयकाव्य), प्रभाचंद्र (प्रभावकचरित), मेरुतुंग (प्रबन्धचिन्तामणि व थेरावली) और राजशेखर (प्रबन्धकोश) ।

अन्तिम आठवाँ अध्याय उपसंहार के रूप में है जिसमें पूर्ववर्ती अध्यायों की सामग्री को एक साथ रखकर उसका मूल्यांकन किया गया है। निष्कर्ष रूप में हमने यह पाया कि जैन स्रोत जैनधर्म के इतिहास, भारत के सामान्य इतिहास की विश्वसनीय सूचना तो देते ही हैं, साथ ही कुछ क्षेत्रों में तो ये इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनके अध्ययन के बिना इतिहास ही अधूरा रह जाता है। उदाहरणस्वरूप —

१. उज्जयिनी पर शकों के आक्रमण की सूचना देने वाले साहित्यिक स्रोत जैन ग्रंथ ही हैं। कालकाचार्य कथानक, निशीथचूर्णि, व्यवहारभाष्य ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के शासक गर्दीभिल्ल (महेन्द्रादित्य) से अपनी बहन सरस्वती के अपमान का बदला लेने के लिए कालकाचार्य पारसकूल (पर्शिया) के सम्राट को उज्जयिनी पर आक्रमण के लिए बुलाया। युद्ध में गर्दीभिल्ल की पराजय हुई और उज्जयिनी पर शकों का राज्य हो गया। जिसका काल चार वर्षों तक रहा।

२. इसी प्रकार सुकृत-संकीर्तन पहला ऐतिहासिक काव्य है जिसमें चावडावंश का वर्णन है। जिसका समर्थन कुमारपाल की बड़नगर-प्रशस्ति से भी होता है।

* शोध-अध्येता, पारश्वनाथ विद्यापीठ

प्राचीन जैन कथा साहित्य का उद्भव, विकास और वसुदेवहिंडी

डॉ. कमल जैन*

मानव समाज के विविध क्रियाकलापों तथा उनके प्रेरक मूल्यों एवं मान्यताओं की संज्ञा को संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृति विशाल एवं वैविध्यपूर्ण संस्कृति है जिसको जानने के लिये उसके साहित्य का अवलोकन अनिवार्य है। साहित्य अपने प्रतिपाद्य विषय, जनजीवन के कार्यकलापों और उसकी परिस्थितियों से ही ग्रहण करता है। वस्तुतः सामाजिक जीवन के परिवेश की हर वस्तु की छाप साहित्य पर होती है।

विश्व साहित्य में कथा साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है। कथा-कहानी, श्रुत और श्रुति से भी प्राचीन है। कथा-कहानियाँ अपनी स्थानीय परिस्थिति परिवेश, भौगोलिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का जीवन्त दृश्य प्रस्तुत करती हैं। लोकदृष्टि से जैनसाहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रोचक एवं जनप्रिय अंश कथा साहित्य है। अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में दृष्टान्त, उपमा, रूपक, संवाद आदि में कथा-सूत्र मिलते हैं। जैनागमों के नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका ग्रन्थों में तो अपेक्षाकृत विकसित कथा साहित्य के दर्शन होते हैं।

प्राचीन काल में संस्कृत, विद्वान पण्डितों की भाषा मानी गयी थी। वैदिक साहित्य इसी भाषा में रचा गया था। महावीर और बुद्ध ने जनसामान्य में बोली जाने वाली भाषा प्राकृत को अपनाया। प्राकृत लोकभाषा होने के कारण जनसामान्य से जुड़ी हुई थी जिसको बाल, वृद्ध, स्त्रियाँ और अनपढ़ सभी समझ सकते थे। जैनों का विशाल प्राकृत साहित्य एक ओर आगम साहित्य के रूप में प्रवाहित हुआ है तो दूसरी ओर **चरणकरणानुयोग**, **धर्मकथानुयोग**, **गणितानुयोग**, **द्रव्यानुयोग** के रूप में हमारे समक्ष आया है।

१. **चरणकरणानुयोग** — श्रावक और श्रमणों का आचार सम्बन्धी साहित्य इसके अन्तर्गत आता है।

२. **धर्मकथानुयोग** — धर्मसम्बन्धी कथाओं का साहित्य इसमें समाहित है।

३. **गणितानुयोग** — इसमें गणित के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है।

४. **द्रव्यानुयोग** — इसमें श्रुतज्ञान के प्रकाश से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि द्रव्यों को स्पष्ट किया गया है।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखे गये **धर्मकथानुयोग** में विशुद्ध आचरण करने वाले महापुरुषों की जीवनियाँ थीं। **धर्मकथानुयोग** बारहवें अंग **दृष्टिवाद** का विषयवस्तु था। इसमें

अरिहन्तों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण, सम्बन्धी तथा कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों के चरित्र थे। जैन मान्यतानुसार **दृष्टिवाद** का उच्छेद हो गया है। आर्यरक्षित ने उसका उद्धार **धर्मकथानुयोग** के अन्तर्गत किया था पर काल के प्रभाव से उसका भी उच्छेद हो गया। इसके बाद आचार्य कालक ने जैन परम्परागत कथाओं के संग्रह के रूप में **प्रथमानुयोग** के नाम से इस साहित्य का पुनरुद्धार किया।^१

प्राकृत कथा-साहित्य का काल ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है। प्राचीन जैन साहित्यकारों ने कथा-साहित्य की अभिवृद्धि में उल्लेखनीय तथा सराहनीय योगदान दिया है। उनका कथा-साहित्य जैन जगत् की धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता एवं प्राणवत्ता का प्रतीक है। इसमें एक ओर भोग विरक्ति, संयम, सदाचार की प्रतिध्वनियाँ हैं तो दूसरी ओर जीवन के शाश्वत-सुख के स्वर भी मुखरित हुये हैं। यद्यपि यह भी सच है कि इन कथाओं की सामग्री से ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती तो भी इन कहानियों में वास्तविकता का गहरा पुट है। जैन लेखकों ने अपने युग के समाज-मूल्यों की अपेक्षा से समाज को स्वस्थ एवं गतिशील दिशा प्रदान करने का दायित्व निभाया है। उन्होंने जनसामान्य की अनुभूतियों से संस्पर्श पाकर विभिन्न प्रान्तों, नगरों, गाँवों की लोकचेतना का साहित्यीकरण किया है। पुराण-पुरुषों की मौखिक कथाओं को धर्म, दर्शन और तत्त्वों का पुट देकर एक नया स्वरूप प्रदान किया है। वास्तव में देखा जाये तो यह कथा ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के कोष हैं जिनमें कथाकारों ने विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक विषयों की गम्भीर गुत्थियों को तो सुलझाया ही है पर साथ ही सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की भी विस्तृत चर्चा की है।

डॉ० विन्तरनिट्स के शब्दों में कहा जाये तो जैन साहित्य में प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य के अनेक उज्ज्वल रत्न विद्यमान हैं। डॉ० जॉन हर्टल कहते हैं इन विज्ञों ने हमें कितनी ऐसी अनुपम भारतीय कथाओं का परिचय कराया है जो हमें अन्य किसी स्रोत से उपलब्ध नहीं होती।^२

आचार्य संघदास गणि की **वसुदेवहिंडी** में आख्यायिका पुस्तक, कथा-विज्ञान और व्याख्यान का उल्लेख आया है। आचार्य ने कथाओं के दो भेद किये हैं — १. चरितकथा, २. कल्पितकथा। दृष्ट, श्रुत या अनुभूत कथा को चरित कथा कहा गया है और विपर्यय युक्त कुशल व्यक्तियों द्वारा अपनी मति के अनुसार कही गयी कथा को कल्पित कथा कहा गया है।^३ **दशवैकालिक** में सामान्य दृष्टि से कथा के तीन भेद किये गये हैं — १. अकथा, २. कथा, ३. विकथा।

मिथ्यात्व के उदय से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जिस कथा का निरूपण करता है वह संसार परिभ्रमण का कारण होने से अकथा कहलाती है। तप, संयम, दान, शील आदि से पवित्र व्यक्ति लोक-कल्याण के लिये जिस कथा का निरूपण करते हैं वह कथा कही जाती है। प्रमाद, कषाय,

राग, द्वेष, स्त्री, चोर आदि समाज को विकृत करने वाली कथा, विकथा कही जाती है। अकथा और विकथा द्वारा जीवन में नैतिकता नहीं आ सकती। अतः मानव जीवन को सुखी बनाने के लिये कथा को ही श्रेयस्कर कहा गया है।

दशवैकालिक में वर्ण्य-विषय की दृष्टि से चार प्रकार की कथाओं का उल्लेख किया गया है — अर्थ-कथा, काम-कथा, धर्म-कथा, मिश्रित-कथा।^१ हरिभद्रसूरि ने **समराइच्चकहा** में कथाओं के चार भेद किये हैं — अर्थ-कथा, काम-कथा, धर्म-कथा, संकीर्ण-कथा। उद्योतनसूरि ने कथाओं के तीन भेद किए हैं — धर्म-कथा, अर्थ-कथा, काम-कथा।^२

अर्थ-कथा — लौकिक जीवन में अर्थ का प्राधान्य है, अतः मानव की आर्थिक समस्याओं और उनके विभिन्न प्रकार के समाधानों का कथा में निरूपण करना अर्थ-कथा है। **दशवैकालिक** में विद्या, शिल्प के विविध उपाय, साहस, संचय, दाक्षिण्य, साम, दाम, दण्ड, भेद तथा अर्थ की सिद्धि बताने वाली कथा को अर्थ-कथा कहा गया है।^३ हरिभद्र ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, धातुवाद और अर्थोपार्जन के हेतु साम, दाम, दण्ड, भेद आदि से युक्त कथा को अर्थ-कथा कहा है।^४

काम-कथा — काम-कथा में रूप सौन्दर्य के अतिरिक्त यौन समस्या का कलात्मक ढंग से निवेष्टन किया जाता है। रूप, सौन्दर्य, दाक्षिण्य, अवस्था, वेशभूषा कलाओं की शिक्षा, दृष्ट, श्रुत और अनुभूत का परिचय कराने वाली कथा को काम-कथा कहा गया है।^५

धर्म-कथा — धर्म-कथा में धर्म, शील तप, संयम, पुण्य और पाप के रहस्य के सूक्ष्म विवेचन के साथ मानव प्रकृति की सम्पूर्ण विभूति का उज्ज्वल चित्रण किया जाता है। जिनदासगणि ने सर्वज्ञोक्त अहिंसा आदि धर्म-सम्बन्धी कथन करने वाली कथा को धर्म-कथा कहा है।^६ हरिभद्र ने श्रमण के दश धर्मों से युक्त तथा अणुव्रतों से युक्त कथा को धर्म-कथा कहा है।^७ महाकवि पुष्पदन्त ने अभ्युदय और निःश्रेयस की संसिद्धि करने वाली सद्धर्म से निबद्ध कथा को धर्म-कथा कहा है।^८ उद्योतनसूरि ने विभिन्न प्रकार के प्राणियों के विभिन्न प्रकार के भाव-विभाव का निरूपण करने वाली कथा को धर्म-कथा कहा है।^९ चार प्रकार के पुरुषार्थों का कथन करने वाली धर्म-कथा के चार भेद आगम-ग्रन्थों में कहे गये हैं।^{१०}

१. **आश्लेषणी कथा** — ज्ञान और चरित्र के प्रति आकर्षण पैदा करने वाली, श्रोता के मन को अनुकूल लगने वाली।

२. **विक्षेपणी कथा** — परमत्त का कथन कर स्वमत की स्थापना करने वाली।

३. **सवेदनी कथा** — संसार के दुःख, शरीर की अशुचिता आदि दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली।

४. **निर्वेदनी कथा** — कर्मों के फल दिखाकर संसार से विरक्ति उत्पन्न करने वाली।

मिश्रित-कथा — अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा इन तीनों का सम्मिश्रण इस विधा में पाया जाता है। इन कथाओं का मुख्य विषय राजाओं और वीरों की शौर्य-गाथायें, व्यापारी और सार्थवाहों की साहसिक समुद्री यात्रायें, दान, शील तप, वैराग्य से युक्त कथायें, क्रोध,

मान, माया और लोभ आदि मानवीय विकृतियों के दुष्परिणामों को बताने वाली कथायें। दशवैकालिक में धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों का निरूपण करने वाली कथा को मिश्र कथा कहा गया है। हरिभद्र ने लौकिक और धार्मिक रूप से प्रसिद्ध उदाहरण हेतु और कारण से युक्त कथाओं को मिश्र अथवा संकीर्ण कथा कहा है। अनुभूतियों की पूर्णतः अभिव्यक्ति की क्षमता संकीर्ण या मिश्र कथा में ही रहती है। जीवन की सभी सम्भावनाएँ, रहस्य एवं सौन्दर्य-प्रधान उपकरणों की उपस्थिति मिश्र कथाओं में ही रहती है। सभी प्राकृत कथाकारों ने संकीर्ण कथा के महत्त्व को स्वीकार किया है।

समराइच्चकहा में पात्रों के आधार पर दिव्यकथा, मानुषकथा तथा दिव्य मानुषकथा तीन भेद किये गये हैं^{१५}

दिव्य कथा — इस कथा में दिव्य व्यक्तियों के क्रिया-कलापों से कथावस्तु का निर्माण किया जाता है। मनोरंजन और कौतूहल तत्त्व की सघनता, शृंगारादि रसों की निबद्धता एवं शैली की स्वच्छता दिव्य कथाओं के मुख्य गुण माने जाते हैं। वर्णन कौशल और कथोपकथन की कला से प्रस्फुटित होने पर भी इन कथाओं में स्वाभाविकता का अभाव पाया जाता है^{१६}

मानुष कथा — इस कथा के पात्रों में पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है। कथा के पात्र सजीव और क्रियाशील होते हैं।

दिव्य मानुषी कथा — इस कथा में कथा जाल सघन और कलात्मक होता है। चरित्र घटना आदि विभिन्न परिस्थितियों के विशद और मार्मिक चित्रण होते हैं। साहसपूर्ण यात्रायें, नायक-नायिकाओं के विभिन्न प्रकार के प्रेमाकर्षण एवं सौन्दर्य के विभिन्न रूप दिव्य मानुषी कथा में पाये जाते हैं। कौतूहल कवि में लीलावई कथा को दिव्य मानुषी कथा कहा है^{१७}

उद्योतनसूरि ने शैली के आधार पर कथाओं के पाँच भेद किये हैं —

१. सकल कथा,
२. खण्ड कथा,
३. उल्लाव कथा,
४. परिहास कथा एवं
५. संकीर्ण कथा।

सकल कथा — इस कथा में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों पुरुषार्थों का वर्णन पाया जाता है। इस कथा के अन्त में सभी प्रकार के अभीष्ट की प्राप्ति होती है।

खण्ड कथा — इसकी कथावस्तु छोटी होती है। यह जीवन के लघु चित्र ही उपस्थित करती है।

उल्लाव कथा — साहसपूर्ण की गई यात्रायें या साहसपूर्ण किये गये प्रणय-व्यापारों के उल्लेख के साथ-साथ धर्म-चर्चा का उल्लेख भी किया जाता है।

परिहास कथा — मनोरंजन के लिये कही गई हास्यपूर्ण अथवा व्यंगात्मक कथायें। ऐसी कथाओं में अन्य तत्त्वों का अभाव रहता है।

संकीर्ण कथा — इस कथा में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों प्रकार की कथाओं का निरूपण होता है।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कथाओं के बारह भेद बतलाये हैं — १. आख्यायिका, २. कथा, ३. आख्यान, ४. निदर्शन, ५. प्रहल्लिका, ६. मन्थल्लिका, ७. मणिकुल्या, ८. परिकथा, ९. खण्डकथा, १०. सकलकथा, ११. उपकथा, १२. बृहत्कथा^{१८}

जैन साहित्य के प्रारम्भिक काल में कथाओं के कथावस्तु, चौबीस तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, राम, कृष्ण आदि पुराणपुरुषों का जीवन चरित्र ही होता था पर आलोच्य काल में श्रमण, श्रावक, राजा, सेनापति, सार्थवाह, वणिक्, धूर्त, ठग, चोर, वेश्या आदि साधारण जनों का चरित्र भी चित्रित किया जाने लगा था। जैन आचार्य जहाँ भी जाते थे वहाँ के लोकजीवन और रीति-रिवाजों का सूक्ष्म अध्ययन करते थे और उनको अपने ग्रन्थों में गुम्फित करते थे। उसके साथ ही उनका मुख्य उद्देश्य तो जैन-परम्परा के आचारों विचारों को रोचक शैली में प्रस्तुत कर जनसाधारण की धार्मिक चेतना और भक्ति-भावना को जगाना था जिसके लिये जैन आचार्यों ने युग की माँग को देखते हुये अपनी धर्मकथाओं में भी शृंगाररस से परिपूर्ण प्रेमाख्यानों का समावेश करके अपनी रचनायें शृंगारयुक्त प्रभावोत्पादक ललित शैली में लिखना आरम्भ किया। वसुदेवहिंडी के मध्यम खण्ड में धर्मसेनगणि महत्तर कहते हैं कि लोग नहुष, नल, धुंधुमार, निहस, पुरुरव, मान्धाता, राम, रावण, जनमेजय, कौरव, पाण्डव, नरवाहनदत्त आदि की लौकिक कथाओं को सुनकर इतना रस लेते हैं कि धर्मकथाओं को सुनने की इच्छा ही नहीं होती। ऐसे ही जैसे ज्वर पित्त के कारण हुये कडुवे मुख वाले रोगी को गुड़ शक्कर भी कडुवे लगने लगते हैं, ऐसी दशा में जैसे कोई चतुर वैद्य अमृतरूप औषधपान से पराङ्मुख रोगी को मिठास मिश्रित करके अपनी औषधि पिला देता है, उसी प्रकार कामकथा में रत पाठकों के मनोरंजन के लिये शृंगार कथा के बहाने धर्मकथा सुनानी चाहिए^{१९}

वास्तव में देखा जाय तो भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत कम ग्रन्थ हैं जिनमें जीवन के विनोद तथा भोग को इतनी अधिक प्रमुखता दी गई है। वसुदेवहिंडी एक शृंगारप्रधान कथा है जिसमें मानव-जीवन का बड़ा वास्तविक मनोरम चित्रण किया गया है। धर्मकथा होने पर भी इसमें चोर, विटप, वेश्या, धूर्त, ठग आदि का चित्रण बड़ी सफलता से किया गया है। पशु पक्षियों और पिशाचों की कौतूहलवर्धक कथाओं के ऐसे जाल हैं जो पाठकों को तत्कालीन लोकसंस्कृति का जीवन्त दर्शन कराते हैं।

आगम बाह्य कथा साहित्य में संघदासगणि की वसुदेवहिंडी का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा, कला-चेतना और सारस्वत श्रम के विनियोग से इसे पल्लवित कर अपनी मौलिक प्राणवाहिनी धारा से इसे गतिशील बनाया है। आचार्य लोकजीवन को आन्दोलित करने वाले कीर्तिपुरुष थे। आत्मख्याति के प्रति उदासीन होने के कारण उन्होंने अपनी रचना में अपने जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, माता-पिता, कुल-जाति एवं कौटुम्बिक जीवन के विषय में कोई सूचना नहीं दी। ग्रन्थ की अनेक उक्तियों से सूचित होता है कि लेखक ने

अपने ग्रन्थ का प्रणयन जिनेन्द्र भक्ति तथा लोक में जिन-धर्म के प्रचार के लिये किया है, लेकिन इतना निश्चित है कि वे उत्तम कथाकार थे, कथा-वर्णन शैली में निष्णात थे। ग्रन्थ के आरम्भ में अपनी रचना को उन्होंने गुरु-परम्परागत संग्रह रचना कहा है तथा सिद्ध किया है कि प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थङ्कर चक्रवर्ती और दशार्हवंश के राजाओं के चरित्र के अनुसार सुधर्मास्वामी ने यह चरित्र अपने शिष्य जम्बूस्वामी को सुनाया था।^{१०}

जैन साहित्य में संघदासगणि नामक दो आचार्यों का उल्लेख हुआ है — एक, **वसुदेव-हिंडी** प्रथम खंड के प्रणेता जो वाचक पद से विभूषित थे, दूसरे **बृहत्कल्प भाष्य** के रचनाकार क्षमाश्रमण पद से अलंकृत थे। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार यह दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे क्योंकि एक वाचक पद से विभूषित थे दूसरे क्षमाश्रमणपद से विभूषित थे।^{११} इसका निराकरण करते हुये कुछ विद्वानों ने कहा है कि एक ही व्यक्ति विविध समय में विविध पदवियाँ धारण कर सकता है अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन पदवियों को धारण करने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न थे। इन आचार्यों को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने के लिये मुनि जी ने जो दूसरा प्रमाण प्रस्तुत किया वह बड़ा महत्वपूर्ण है। आचार्य जिनभद्रगणि ने अपने ग्रन्थ **विशेषणवती** में **वसुदेवहिंडी** का कई बार उल्लेख किया है जो यह सिद्ध करता है कि **वसुदेवहिंडी** के कर्ता जिनभद्रगणि के पूर्ववर्ती थे और उस समय तक काफी प्रसिद्धि पा चुके थे।^{१२} दोनों ग्रन्थों की भाषा-शैली का भी यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो दोनों ग्रन्थकारों के विभिन्न व्यक्ति होने की पुष्टि होती है। **वसुदेवहिंडी** दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड के कर्ता संघदासगणि और द्वितीय खण्ड के कर्ता धर्मसेनगणि माने जाते हैं। मध्यमखण्ड की रचना धर्मसेन ने दो शताब्दी बाद अपने पूर्ववर्ती संघदासगणि की रचना को आगे बढ़ाते हुये की थी। अपनी कृति की भूमिका में वह कहते हैं कि वसुदेव ने १०० वर्ष तक भ्रमण करके अनेक विद्याधर और मानव राजाओं की कन्याओं से १०० विवाह किये थे। संघदासगणि ने केवल २१ विवाहों का ही वर्णन किया है। शेष ७९ विवाहों का वर्णन उन्होंने विस्तार के भय से छोड़ दिया था। उन्हें मध्यम लम्बकों के साथ मिलते हुये मैं कह रहा हूँ। धर्मसेनगणि ने मध्यमखण्ड में इस अपूर्ण कृति को पूर्ण करने के लिये ७९ लम्बों की रचना की। अपनी रचना को उन्होंने १८वें और २१ वें लम्ब के मध्य प्रभावती लम्ब से शुरू किया है। प्रथमखण्ड में प्रभावती की कथा इतनी संक्षिप्त है कि वह अपूर्ण सी लगती है। धर्मसेन ने इसे विस्तृत रूप देकर इस कमी को पूर्ण किया है। संघदासगणि की रचना में उपसंहार नहीं है। धर्मसेनगणि ने उपसंहार में सोमश्री और वसुदेव का पुनर्मिलन दिखाकर इस कृति को पूर्ण किया है। दुर्भाग्य से धर्मसेनगणि के जीवन और काल के विषय में भी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। आचार्य ने अपनी कृति को पूर्व परम्परा से प्राप्त कहा है।^{१३}

वसुदेवहिंडी प्रथमखण्ड के रचनाकार संघदासगणि का समय अनुमानतः ईसा की तृतीय या चतुर्थ शताब्दी माना गया है। **आवश्यकचूर्णि** में **वसुदेवहिंडी** का उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि ६०० ईस्वी सन् के पहले इसकी रचना हो चुकी थी। भाषा और

विषय की दृष्टि से भी इसकी प्राचीनता की पुष्टि होती है।

उत्तर कालीन श्वेताम्बर विद्वानों में यह रचना बड़ी लोकप्रिय रही है। जिनदासभद्रगणि क्षमाश्रमण ने (६१० ई०) विशेषणवती में वसुदेवचरियं का उल्लेख किया है। आवश्यकचूर्णि में वसुदेवहिंडी का उल्लेख करते हुए प्रसन्नचन्द्र, वत्कलचिरी, धम्मिलहिण्डी के कथानक प्रस्तुत किये हैं। हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने वसुदेवहिंडी का उल्लेख किया है। समराइच्चकहा के बहुत से कथानक वसुदेवहिण्डी से प्रभावित हैं। हरिषेण के बृहत्कथाकोष और जिनसेन के हरिवंश पुराण में वसुदेवहिंडी के कई कथानक आये हैं। ग्यारहवीं शती के विद्वान वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन वृत्ति में अगड़दत्त कथानक का उल्लेख किया है।^{१४}

ग्रन्थ परिचय

प्राकृत के पण्डित मुनि चतुरविजय और मुनि पुण्यविजयजी ने विभिन्न जैन-भण्डारों की १२ हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वसुदेवहिंडी का सम्पादन किया है फिर भी यह कृति पूर्ण नहीं हो पाई। प्रियंगुसुन्दरी लम्ब और केतुमति लम्ब सबसे अधिक विकृत हैं, महत्त्वपूर्ण उन्नीस और बीसवाँ लम्ब अनुपलब्ध हैं। ग्रन्थ का उपसंहार भी नहीं है। बहुत सी बाह्य सामग्री का भी समावेश हो गया है। छः अधिकारों में धम्मिलहिण्डी का उल्लेख नहीं है। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। उनके विचार में इस अधिकार का समावेश बाद में हुआ। बीच-बीच में कई अस्पष्टता और पाठ भेद भी हैं।^{१५} वसुदेवहिंडी में अन्धक-वृष्णि वंश के महाराज वसुदेव की कथा का पल्लवन है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई गद्यात्मक रचना है, बीच-बीच में पद्य भी हैं, कहीं-कहीं गद्य-पद्य-मिश्रित भी हो गये हैं। इसमें ग्यारह हजार श्लोक और २९ लम्बक हैं। १९, २० लम्बक अनुपलब्ध हैं और उपसंहार भी नहीं है। वसुदेवहिंडी मध्यमखण्ड के ७१ लम्ब १७ हजार श्लोकों में पूर्ण हुये हैं। ७१ लम्बों को चार भागों में विभाजित किया गया है — प्रथम खण्ड में प्रभावती लम्ब है, द्वितीय खण्ड ४४ लम्ब तक है, तृतीय ४५ से ५७ तक तथा चतुर्थ ५७ से ७१ तक है। इसमें आचार्य ने अपनी कल्पना प्रधान रोचक श्रृंगारिक शैली का परिचय दिया है। अपनी रचना के प्रारम्भ में आचार्य ने स्वीकार किया है कि लौकिक श्रृंगार कथा की प्रशंसा को न सहन करते हुये आचार्य के समीप निश्चय करके प्रवचन के अनुराग से आचार्य के आदेश से इसकी रचना की है। आचार्य ने इसे गुरु-परम्परागत मानकर, लता-विज्ञान की उपमा देते हुये इसे धर्म, अर्थ, काम से पुष्पित, फल-भार से नमित, श्रृंगार के ललित किसलय से व्याप्त, सुमन की शोभा से आह्लादित मधुकरों रूपी विविध गुणों से सेवित कहा है।^{१६} यह रचना भी महाराष्ट्री प्राकृत में है। आचार्य ने इसे दृष्टिवाद से उद्धृत और गण्डिकानुयोग पर आधारित कहा है। इसमें विद्याधरों से सम्बन्धित बहुत सी महत्त्वपूर्ण सूचनायें दी गई हैं। विद्याधरों के ६४ निकायों का उल्लेख है।

वसुदेवहिंडी का महत्त्व इसलिये भी अधिक है कि यह महाकवि गुणादय की पैशाची भाषा में रचित विलुप्त बृहत्कथा के मूल स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है। पाश्चात्य विद्वान डॉ० एल० आल्सडोर्फ ने इसे बृहत्कथा का जैन रूपान्तर कहा है।^{१७} गुणादय की बृहत्कथा

अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, इसके नेपाली, जैन और कश्मीरी रूपान्तर मूल रचना के शताब्दियों के बाद प्रस्तुत हुये हैं।

संघदासगणि ने **वसुदेवहिंडी** को एक धर्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया है। यह कृष्ण के पिता वसुदेव के देशदेशान्तर सम्पूर्ण बृहद् भारत के भ्रमण पर लिखी गई है। इसमें जैन धर्म की प्रभावना करने वाले कितने ही प्रसंगों को यथास्थान सम्मिलित किया है। उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति से **बृहत्कथा** की कामकथा को लोककथा और धर्मकथा में परिवर्तित किया है। **बृहत्कथा** के कथानायक राजा उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के अद्भुत कौशल को अन्धकवृष्णि के महापुरुष वसुदेव पर आरोपित करके अपनी सृजनात्मक कला का परिचय दिया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में लेखक ने पंचनमस्कार करते हुये गुरु-परम्परागत '**वसुदेवचरित**' संग्रह-गाथा की प्रस्तुति के उद्देश्य को स्पष्ट किया है तथा इसके छः अधिकार किये हैं —

१. कथोत्पत्ति, २. पीठिका, ३. मुख, ४. प्रतिमुख, ५. शरीर, ६. उपसंहार।^{१०} उपलब्ध ग्रंथ में कथोत्पत्ति के बाद धम्मिलहिण्डी है। उसके बाद पीठिका, मुख, प्रतिमुख और शरीर है उपसंहार नहीं है।

कथोत्पत्ति, पीठिका और मुख में कथा का प्रस्ताव हुआ है। प्रतिमुख में वसुदेव ने अपनी आत्मकथा का आरम्भ किया है। शरीर के अन्तर्गत कथा का विकास किया है।

१. **कथोत्पत्ति** — आचार्य ने इस ग्रन्थ को प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और दशाहं वंश की व्याख्या के प्रसंग में कहा है। इसमें महावीर के गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा अपने शिष्य जम्बू स्वामी को यह चरित कहा गया है। उससे पहले जम्बू स्वामी का चरित्र कहते हुये इभ्यपुत्र का दृष्टान्त, प्रभवस्वामी की कथा, मधुबिन्दु का दृष्टान्त, ललिताङ्ग का दृष्टान्त, कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का कथानक, महेश्वरदत्त का आख्यान, प्रसन्न और वल्कलचीरी की कथा आदि कितने ही पौराणिक कथानकों का समावेश किया गया है।

धम्मिलहिण्डी — **वसुदेवहिंडी** के कथोत्पत्ति प्रकरण के अनन्तर ३० पृष्ठों की धम्मिलहिण्डी नाम की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें धम्मिल नामक सार्थवाहपुत्र की कथा है जो देशदेशान्तर में भ्रमण करके ३२ कन्याओं से विवाह करता है। यह अपने आपमें एक स्वतन्त्र रचना है। मूलकथा **वसुदेवहिण्डी** की तरह कई विवाहों की कथा पर आधारित है। इसमें शीलगति, धनश्री, विमलसैना, ग्रामीण गाड़ीवान, वसुदत्ताख्यान, रिपुदमन, नरपति आदि लोककथाओं का सृजन बड़े कलात्मक ढंग से किया गया है।

२. **पीठिका** — में कृष्ण की अग्रमहिषियों का परिचय, पुत्र-प्राप्ति के लिये हरिणगमेशी देव की पूजा-अर्चना, गणिकाओं की उत्पत्ति, ३२ प्रकार की नाट्यविधि, प्रद्युम्न और शाम्ब कुमार की कथा का सम्बन्ध। प्रद्युम्न कुमार का जन्म और उसका अपहरण, प्रद्युम्न और शाम्ब के पूर्वजन्म की कथा, प्रद्युम्न के माता-पिता के साथ समागम तथा पाणिग्रहण का उल्लेख है।

३. **मुख** — इसमें शाम्ब और भानु की परस्पर क्रीड़ाओं और आपसी विद्वेष का उल्लेख है।

४. प्रतिमुख — इसमें अन्धक वृष्णिवंश का परिचय देते हुये वसुदेव के पूर्वभव का कथा के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। वसुदेव की कथा आरम्भ करते हुये बताया गया है कि सत्यभामा के पुत्र भानु के विवाह के लिये १०८ कन्यायें एकत्रित की गयी थी किन्तु उनका विवाह जाम्बवती के पुत्र शाम्ब से कर दिया गया था। इस पर प्रद्युम्न ने अपने दादा वसुदेव पर कटाक्ष करते हुये कहा कि शाम्ब ने तो घर बैठे १०८ कन्याओं से विवाह कर लिया है, आप तो १०० विवाहों के लिये १०० वर्ष घूमते रहे। इसके प्रत्युत्तर में अपनी आत्मकथा आरम्भ करते हुये वसुदेव ने कहा शाम्ब तो कुँए का मेढक है जो सरलता से प्राप्त भोगों से सन्तुष्ट हो गया है। मैंने तो १०० वर्ष पर्यटन करते हुये अनेक सुख-दुःखों का अनुभव किया है। इस प्रकार **वसुदेवहिंडी** कथा का आरम्भ होता है।^{१५}

५. शरीर — हिण्डन् का अर्थ है भ्रमण, **वसुदेवहिंडी** के २९ लम्बों में वसुदेव के बृहत्तर भारत के भ्रमण का उल्लेख है। २९ लम्बों में वसुदेव के २६ विवाहों का उल्लेख है। वसुदेव के रूप सौन्दर्य पर मोहित होकर नगर की स्त्रियाँ अपनी सुधबुध खो बैठती थीं। नागरिकजनों के अनुरोध पर वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय ने वसुदेव के नगरभ्रमण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। वसुदेव का आत्म-सम्मान आहत हो गया। उसने रुष्ट होकर गृह-त्याग कर दिया और परिवारजनों में ऐसा भ्रम पैदा कर दिया कि उन्होंने उसे मृतक समझ लिया। अपने यात्राकाल में अनेकों साहसपूर्ण कार्य करते हुए वे नई-नई जगह पहुंचते हैं और अनेक विद्याधर और मानवी कन्याओं से विवाह करते हैं जिनमें श्यामा, विजया, श्यामली, गन्धर्वदत्ता, नीलयशा, सोमश्री, मित्राश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पुण्ड्रा, वेगवती, मदनवेगा, बालचन्द्रा, बन्धुमति, प्रियंगुसुन्दरी, केतुमति, प्रभावती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, ललितश्री, रोहिणी और देवकी से विवाह का उल्लेख हुआ है। रोहिणी से विवाह के समय उनकी अपने बड़े भाई समुद्रविजय से मुलाकात हो जाती है। उनके अनुनय-विनय करने पर वसुदेव अपनी सब पत्नियों के साथ द्वारका लौट आए और परिवारजनों के साथ पूर्ववत् रहने लगे।^{१६}

वसुदेवहिंडी में केवल वसुदेव के भ्रमण का ही वृत्तान्त नहीं किन्तु ऐसे अनेक कथानक हैं जो मनोरंजक होने के साथ-साथ लोक-संस्कृति के अनेक पक्षों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। मूलकथा को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अवान्तर कथाओं का सुन्दर जाल बुना गया है। विष्णुकुमार चरित्र, अथर्ववेद की उत्पत्ति, ऋषभस्वामी का चरित्र, आर्य-अनार्य वेदों की उत्पत्ति, सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा, सुभौम कुन्धु स्वामी का चरित्र, रामायण, शान्ति- नाथ तीर्थङ्कर का चरित्र, अमरनाथ तीर्थङ्कर का चरित्र, मेघरथ का आख्यान, हरिवंश की उत्पत्ति, जमदग्नि-परशुराम की कथा, सगर पुत्रों की कथा आदि पौराणिक आख्यानों का उल्लेख किया गया है जिसके कारण कथा का विस्तार बहुत अधिक हो गया है।

उपसंहार

संघदासगणि ने कथा का उपसंहार नहीं किया। इस कमी को धर्मसेनगणि ने पूर्ण किया है। कथा के उपसंहार में बताया गया है कि वसुदेव, सोमसिरि के अपहरणकर्ता मानसवेग

को क्षमा कर देता है। वसुदेव और सोमश्री का पुनर्मिलन हो जाता है।

वसुदेवहिंडी का महत्त्व इसलिये भी अधिक है कि यह महाकवि गुणाढ्य की पैशाची भाषा में रचित विलुप्त **बृहत्कथा** के मूल स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है। पाश्चात्य विद्वान डॉ० एल० आल्सडोर्फ ने इसे **बृहत्कथा** का जैन रूपान्तर कहा है।^{३०}

बृहत्कथा अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके नेपाली, जैन और कश्मीरी रूपान्तर मूलरचना के शताब्दियों के बाद प्रस्तुत हुए हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर विद्वानों ने मूलग्रन्थ की रूपरेखा तैयार की है। प्रो० लोकोत ने विलुप्त **बृहत्कथा** की आयोजना का अनुमान **बृहत्कथा श्लोकसंग्रह** के आधार पर किया है। वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध मदनमंचुका से विवाह कर लेता है। कोई विद्याधर मदनमंचुका का अपहरण कर लेता है। अपनी प्रिया की खोज में नरवाहनदत्त विद्याधर और मनुष्यलोक में घूमते हुये अनेक पराक्रम दिखाते हुये मानवी और विद्याधर अनेक कन्याओं से विवाह करता है। अन्त में मदनमंचुका को भी प्राप्त कर लेता है। वह चक्रवर्ती बनता है मदनमंचुका उसकी प्रधान महिषी बनती है। यह कथा का एक स्वरूप था। इसमें अनेक अवान्तर कथाओं का संग्रह था।^{३१}

बुद्धस्वामी रचित **बृहत्कथा श्लोकसंग्रह**, **बृहत्कथा** की नेपाल वाचना मानी जाती है। यह २४ सर्गों में विभाजित है। इसमें लगभग ४५३९ श्लोक हैं। इसमें नरवाहनदत्त के २४ विवाहों में दो का उल्लेख है। इसका केवल एक चौथाई भाग ही प्राप्त है। दसवीं शताब्दी के सोमदेव भट्ट द्वारा विरचित **कथा-सरित्-सागर** और ग्यारहवीं शती के विद्वान क्षेमेन्द्र द्वारा रचित **बृहत्कथामंजरी** कश्मीरी वाचना मानी जाती है। **बृहत्कथामंजरी** में १४ लम्बक हैं। सोमदेवभट्ट और क्षेमेन्द्र ने अपनी कथाओं को इतना विस्तार दे दिया है कि वह मूल स्रोत से बहुत दूर हो गई हैं और कई मूल कथायें संक्षिप्त कर दी गई हैं, कई मूल अंश छोड़ दिये गए हैं और कितने ही नये प्रक्षेप जोड़ दिये गए हैं। इस तरह मूल ग्रन्थ का विभिन्न रूप बन गया है।

सभी कथाओं के विस्तृत विश्लेषण से विद्वानों ने कुछ ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है जिससे अनुमान किया जाता है कि **बृहत्कथा श्लोकसंग्रह** और **वसुदेवहिंडी** के कथा-प्रसंगों में काफी साम्यता है। भाषा और शब्दावली भी मिलती-जुलती है। विद्वानों ने कश्मीरी रूपान्तर की अपेक्षा इन दोनों को मूल **बृहत्कथा** के सन्निकट माना है। सम्भवतः इन दोनों के सामने मूल **बृहत्कथा** का एक अत्यन्त रसपूर्ण जीवन्त अतीत की सामग्रियों से भरा हुआ कथास्रोत था।

यद्यपि कथाकार ने लोक-प्रचलित कथानक को ही गुम्फित किया है तथापि अपनी मौलिक प्रतिभा से कथा के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्धन करके अपनी नैसर्गिक काव्यात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इसमें उन्होंने सार्वजनिक उपदेशों को भी दक्षता से पल्लवित करके इस कृति को अमर बना दिया है।

सन्दर्भ

१. धर्मकथानुयोग : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री, संकलनकर्ता मुनि कन्हैयालाल, दलसुख मालवणिया, आगम अनुयोग ट्रस्ट, पृ० ५
२. वसुदेवहिण्डी, अनुवादक डॉ० श्री रंजनदेव सूरि, पं० रामप्रताप शास्त्री चेरीटेबुल ट्रस्ट, ब्यावर, १९४९, पृ० ६४९
३. दशवैकालिक हारिभद्रीयवृत्ति, गा० ३/२०४, २१४, पृ० २२७
४. दशवैकालिक हारिभद्रीयवृत्ति, मनससुखलाल हीरालाल, बम्बई, सं० १९४२, गा० ३/१८८, पृ० २१२
५. समराइच्चकहा, प्रस्तावना पं० भगवानदास कृत संस्कृत छायानुवाद सहित, अहमदाबाद जैन सोसायटी, पृ० २
६. कुवलयमालाकहा, उद्योतनसूरि, सम्पादक डॉ० उपाध्ये, ए० एन०, भारतीय विद्याभवन, बम्बई।
७. दशवैकालिक, हारिभद्रीयवृत्ति, गा० ३/१८८, पृ० २१२
८. समराइच्चकहा, पृ० ४
९. दशवैकालिक, हारिभद्रीयवृत्ति, गा०, ३/१९२, पृ० २१२
१०. दशवैकालिकचूर्णि, जिनदासगणि, श्वेताम्बर संस्था, जामनगर, पृ० २७
११. समराइच्चकहा, पृ० ४
१२. महापुराण, पुष्पदन्त, १/२०
१३. कुवलयमालाकहा, पृ० ४
१४. स्थानाङ्गसूत्र, मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ४/२४६
१५. समराइच्चकहा, पृ० २
१६. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत एण्ड जैनेलॉजी एण्ड अहिंसा, मुजफ्फरनगर, पृ० ११५
१७. कुवलयमालाकहा, पृ० ४
१८. काव्यानुशासन, हेमचन्द्र ८/७-८, पृ० ४६२-४६५
१९. वसुदेवहिण्डी मज्झिमखण्ड १, ३, धर्मसेनगणिमहत्तर, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर प्रकाशन, अहमदाबाद।
२०. वसुदेवहिण्डी, पृ० २
२१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० १३५, पार्श्वनाथ विधात्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
२२. वही, पृ० १३६

२३. वसुदेवहिण्डी, मध्यम खण्ड, पृ० २
२४. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३२९, डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, चौखम्बा प्रकाशना
विद्याभवन, वाराणसी
२५. वही, पृ० ३३०
२६. मध्यमखण्ड, पृ० १, २
२७. वसुदेवहिण्डी, प्रस्तावना, पृ० २
२८. वही, पृ० ३३०
२९. वही, पृ० ११४५
३०. प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ० ११७, डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, लालभाई दलपतभाई
भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद
३१. वही, पृ० ११९ तथा देखिये प्राकृत साहित्य का इतिहास।

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी





पुस्तक समीक्षा

पुस्तक — छक्खंडागम-लेहण-कथा, सम्पादक — डॉ० राजाराम जैन, प्रकाशक — प्राच्य श्रमण भारती प्रकाशन समिति, दि० जैन समाज (बिहार), प्रथम संस्करण — १९९१-९२, आकार — क्राउन, पृष्ठ — ६२, मूल्य — १० रुपये।

इस लघु पुस्तिका में विशेषतः दिगम्बरः परम्परा में आगम ग्रन्थ के रूप में मान्य पुष्पदन्त भूतबलि द्वारा प्रणीत, षट्खण्डागम ग्रन्थ के लेखन का वृत्तान्त और सामान्यतः जैन शौरसेनी प्राकृत आगम के लेखन की कथा का विवरण सम्पादक डॉ० राजाराम जैन ने षट्खण्डागम की भवला टीका में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर प्रस्तुत किया है। प्राकृत के मूल उद्धरणों के साथ उनकी हिन्दी और उद्धरणों में प्राप्त पारिभाषिक शब्दों आदि पर टिप्पणी भी प्रस्तुत की गई है।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद द्वादशाङ्गों का लोप मानती है। परम्परा के अनुसार संयोग से द्वादशाङ्गी वाणी के कुछ अंश का आचार्य धरसेन को ज्ञान था। अपने ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने आन्ध्रप्रदेश के दो तपस्वी साधुओं पुष्पदन्त एवं भूतबलि को अध्ययन कराया। धरसेन ने उन्हें दृष्टिवाद के अन्तर्गत पूर्वसाहित्य तथा आचारानुसूत्र के कुछ अंशों का अध्ययन कराया था जिसके आधार पर षट्खण्डागम की रचना हुई।

शौरसेनी आगमों के रचनाकाल-विवरण जानने की दृष्टि से यह कृति संग्रहणीय है। पुस्तक का मुद्रण सुन्दर एवं निर्दोष है। सम्पादक का प्रयास प्रशंसनीय है।

पुस्तक — जैन दर्शन अने सांख्य-योग मां ज्ञान दर्शन विचारणा, लेखिका — जागृति दिलीप शेट, प्रकाशक — संस्कृत-संस्कृति ग्रन्थमाला, २३ वालकेश्वर सोसाइटी, अंबावाडी, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण — १९९४, आकार — डिमाई, पृष्ठ — २१८, मूल्य — रु० १५०.००

प्रस्तुत कृति जागृति दिलीप शेट द्वारा पीएच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित रूप है। पुस्तक पाँच प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण में उपनिषद् एवं गीता के अनुसार ज्ञान और दर्शन की विचारणा की गई है, जिसमें स्पष्ट किया गया है कि दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धा के साथ-साथ बोधरूप भी है। गीता में ज्ञान और दर्शन की व्याख्या करते समय शंकर और रामानुज के मतों का भी यथास्थान समावेश किया गया है। द्वितीय प्रकरण में जैन दर्शन और सांख्य-योग में ज्ञान और दर्शन के धारक के स्वरूप की गवेषणा की गई है जिसमें सांख्य-योग-सम्मत आत्मा की जैन सम्मत आत्मा की अवधारणा

के साथ तुलना की गई है। तृतीय प्रकरण में सांख्य-योग में ज्ञान और दर्शन के स्वरूप का विवेचन एवं चौथे प्रकरण में इन युग्म दर्शनों में श्रद्धानुरूप दर्शन की व्याख्या की गई है। पंचम और अन्तिम प्रकरण में बौद्ध दर्शन एवं न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा का समकालीन सिद्धान्तों के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन किया गया है।

लेखिका की यह कृति एक महत्त्वपूर्ण कृति है क्योंकि सांख्य-योग और जैन सम्मत ज्ञान और दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन प्रथम बार इस ग्रन्थ में किया गया है। जैन दर्शन में ज्ञान और दर्शन की अवधारणा को समझने के लिए, सांख्य-योग की एतद्सम्बन्धी अवधारणा कहाँ तक सहायक है, इसकी सम्यक् विवेचना इस ग्रन्थ में की गई है। साथ ही यह ग्रन्थ कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डालती है जो कम से कम ज्ञान और दर्शन की अवधारणा के सम्बन्ध में अभी तक उपेक्षित थे। कृति संग्रहणीय और उत्तम है तथा विशेषकर शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

पुस्तक — आरामसोहाकथा (आरामशोभाकथा), लेखक — आचार्य संघतिलकसूरि, **सम्पादन एवं अनुवाद —** डॉ० राजाराम जैन एवं डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन, **प्रकाशक —** प्राच्य भारती प्रकाशन, आरा, प्रथम संस्करण — फरवरी सन् १९८९, आकार — क्राउन सोलह पेजी, मूल्य — सोलह रुपये।

आरामशोभाकथा में एक विप्र-कन्या की कथा है, जिसके बचपन का नाम विद्युत्प्रभा है। वह विद्युत के समान कान्ति एवं सर्वगुणसम्पन्न है। बचपन में उसकी माता की मृत्यु के कारण उसकी विमाता (सौतेली माँ) उसके साथ सद्व्यवहार नहीं करती जिससे उसे गृहस्थी के सभी कार्य करने होते हैं। एक दिन उसने जंगल में एक नागकुमार की प्राणरक्षा की जिसके फलस्वरूप उसने उससे वर माँगने को कहा। विद्युत्प्रभा ने वृक्षहीन स्थान पर वृक्षोत्पत्ति का वर माँगा। उसने वहाँ पर छहों ऋतुओं के फल पौधे उत्पन्न कर दिये जो विद्युत्प्रभा के साथ चलते थे, इसके अतिरिक्त उसने वर दिया — “तुम जब भी मुसीबत में पड़ो मुझे याद करना”।

इस आराम (वाटिका) के प्रभाव से उसका विवाह पाटलिपुत्रनरेश जितशत्रु से हुआ और उसका नाम आरामशोभा पड़ा गया। बाद में मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर वह आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो गयी।

इस कथा के माध्यम से लेखक ने आरामशोभा को एक सुयोग्य एवं साहसी कन्या, धैर्य एवं क्षमायुक्त गृहिणी और पूर्ण वात्सल्यमयी माँ होने के गुणों के साथ-साथ धर्मपरायणता, सहिष्णुता, पूर्ण उदार हृदय एवं संसार के वैभव से विचलित न होने वाली गुणी स्त्री के रूप में वर्णित किया है। कथा रोचक एवं उपदेशपूर्ण होने से पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। इसके सुन्दर सम्पादन एवं अनुवाद के लिए सम्पादक एवं अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

नाटक — मध्यकालीन जैन सट्टक-नाटक, सम्पादक एवं अनुवादक — प्रो० डॉ० राजाराम जैन एवं डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन, **प्रकाशक —** प्राच्य श्रमण भारती प्रकाशन, रफीगंज (औरंगाबाद) बिहार, संस्करण — प्रथम १९९२, आकार — डिमाई, मूल्य — चौबीस रुपये।

‘मध्यकालीन जैन सट्टक-नाटक’ एक संग्रह-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध जैन नाटककार हस्तिमल्ल के प्रमुख नाटकों एवं कवि नयचन्द्रसूरि कृत ‘रम्भामञ्जरी’ नामक सट्टक के महत्वपूर्ण अंकों का संकलन है। इसे संकलित कर लेखक ने छात्रोपयोगी ही नहीं बनाया अपितु उपेक्षित जैन नाटक-साहित्य की महत्ता, मूल्यांकन तथा अन्वेषण की दिशा में सम्पूर्ण विद्वज्जगत् को प्रेरित करने का उपक्रम भी किया।

विश्व वाङ्मय में प्राकृत भाषाओं के अध्ययन और उनकी व्यापकता की दृष्टि से महाकवि हस्तिमल्ल के नाटक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें संस्कृत के साथ प्राकृत भाषाओं का अनुपम सम्मिश्रण है। इसमें प्राचीन प्राकृतों के लुप्तप्राय अनेक शब्द सुरक्षित हैं। तत्कालीन सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा के रूप में प्राकृत दीर्घकाल तक लोकप्रिय रही, अतएव स्वाभाविक रूप से प्राचीन संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा एवं उसके पात्रों की बहुलता है। साथ ही साथ पात्रों की योग्यता के अनुरूप प्राकृत-भाषा में भी भिन्नता को दर्शाया गया है। डॉ० जैन के शोधपूर्ण कार्य से अब तक उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण नाट्य साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ ही संस्कृत-प्राकृत के विभिन्न पाठ्यक्रमों में इनके समायोजन में सुविधा रहेगी। अतएव डॉ० जैन धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक छात्रोपयोगी होने से पठनीय एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक — महावीर रास, सम्पादक-अनुवादक — डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन, **प्रकाशक —** प्राच्य श्रमण भारती प्रकाशन, गया (बिहार), प्रथम संस्करण — १९९४, आकार — डिमाई, मूल्य — ८० रुपये।

महाकवि पद्म द्वारा रचित **महावीररास** नामक पुस्तक में जिन धर्म के श्रेष्ठ चरित्र का गान है। इसमें कवि ने सर्वप्रथम भारती से वर्धमान स्वामी के चरित्र का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की है तदुपरान्त उनका चरित्र-चित्रण किया है। कवि की वर्णन शैली में कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। इसकी कथा आद्योपान्त प्रवाहमयी तो है ही साथ ही वह अत्यन्त सरस, रोचक, मार्मिक एवं श्रोता को भाव-विभोर कर देने वाली भी है। कवि अनेक प्रसंगों में अपने कथन के समर्थन में लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर उसे अत्यन्त स्पष्ट एवं हृदयग्राह्य बना देता है। इसमें समाजोपयोगी उपदेश भी हैं। इन उपदेशों को पढ़कर एवं समझकर पाठक महावीर जी की वाणी का सम्यक् पालन कर सकता है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है। सम्पादन कार्य अच्छे ढंग से किया गया है। मुद्रण निर्दोष एवं भाषा सरल है। पुस्तक संग्रहणीय है।

पुस्तक — विभिन्न धर्मों शास्त्रों में अहिंसा का स्वरूप, लेखिका — डॉ० (कु०)
नीना जैन, प्रकाशक — श्री काशीनाथ सराक, श्री विजयधर्म सूरि समाधि मंदिर, शिवपुरी,
(म० प्र०), संस्करण — प्रथम १९९५, आकार — डिमाई, मूल्य — ५० रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय अहिंसा है जो एक सर्वमान्य धर्म है। इसकी लेखिका ने हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध और जैन धर्मशास्त्रों का गहन अध्ययन कर इस विषय को प्रस्तुत किया है। सामान्यतया सभी धर्म अहिंसा को स्वीकारते हैं किन्तु जितनी व्यापक दृष्टि से जैन धर्म इसे अंगीकार करता है उतना अन्य धर्मों में नहीं मिलता। उक्त सभी धर्मों में अहिंसा के तथ्य को समझने के लिए प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक की छपाई बड़े ही सुन्दर ढंग से की गई है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक — द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक, अनुवादक — डॉ० सुरेश सिसोदिया,
सम्पादक — प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक — आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
(प्र० मा० सं० ८), उदयपुर (राजस्थान), १९९३, आकार — डिमाई पेपरबैक, पृष्ठ —
७६+५४, मूल्य — ४० रुपये मात्र।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति-प्रकीर्णक प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। मानुषोत्तर पर्वत और मध्यलोक के द्वीप सागरों का इसमें विस्तार से विवेचन हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० सिसोदिया ने अपनी भूमिका में द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक का अन्य आगम-ग्रन्थों से विस्तृत तुलनात्मक विवरण दिया है। जगत् की रचना के सन्दर्भ में रुचि रखने वालों के लिये यह ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

— असीम कुमार मिश्र

पुस्तक — जैन धर्म के सम्प्रदाय, लेखक — डॉ० सुरेश सिसोदिया, सम्पादक —
प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक — आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान (प्र० मा० सं०
९), पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राजस्थान), १९९४, आकार — डिमाई पेपरबैक, पृष्ठ —
१०+२४६, मूल्य — ८० रुपये मात्र।

जैन धर्म के सन्दर्भ में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिये उसके विभिन्न सम्प्रदायों और उनकी मान्यताओं का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि आज जो जैनधर्म जीवित है, वह विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में ही है। इस दिशा में तटस्थ चिन्तन और लेखन की आवश्यकता बनी हुई थी। डॉ० सुरेश सिसोदिया ने जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन तथा आचार सम्बन्धी मान्यताओं पर अपना शोधप्रबन्ध लिखा, जिसपर उन्हें मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत भी किया गया। प्रस्तुत पुस्तक डॉ० सिसोदिया के पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध का प्रकाशित संस्करण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में जैन धर्म के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में परम्परागत एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। द्वितीय

अध्याय में जैन आगम, जैन मन्दिर, मूर्तियाँ एवं गुफाएँ, जैन अभिलेख तथा चित्रकला आदि ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर जैन धर्म के सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास की चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय में जैन धर्म के श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय तथा उनके उपसम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण में मुख्य रूप से तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी उन विषम-बिन्दुओं की चर्चा की गई है, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विवादास्पद हैं। विभिन्न सम्प्रदायों की श्रमणाचार एवं श्रावकाचार सम्बन्धी मान्यताओं को क्रमशः पंचम एवं षष्ठ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

युवा विद्वान ने अपनी इस कृति के लेखन में इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि कृति विद्वत्भोग्य होने के स्थान पर जनसाधारण के लिए अधिक उपयोगी हो। डॉ० सिसोदिया की यह कृति अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा वर्ष १९९३ के श्री चम्पालाल सांड स्मृति साहित्य पुरस्कार से पुरस्कृत हो चुकी है। कृति उत्तम एवं संग्रहणीय है।

— डॉ० सागरमल जैन

पुस्तक — तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक, अनुवादक — डॉ० सुभाष कोठारी, सम्पादक — प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक — आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान (ग्र० मा० सं० ५), पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राजस्थान), १९९१, आकार — डिमाई पेपरबैक, पृष्ठ — ३४+६८, मूल्य — ३५ रुपये मात्र।

तन्दुलवैचारिक-प्रकीर्णक प्राकृत भाषा की एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों यथा — गर्भावस्था, मानव शरीर-रचना, उसकी शतवर्ष की आयु के दस विभाग, उनमें होने वाली शारीरिक स्थितियाँ और उसके आहार आदि का पर्याप्त विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ की हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। डॉ० कोठारी ने प्रथम बार इसका हिन्दी अनुवाद कर सर्वसाधारण हेतु उपलब्ध करवाया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० कोठारी द्वारा तुलनात्मक एवं विस्तृत भूमिका दी गयी है, जिससे यह रचना उपयोगी बन गई है। पुस्तक की साज सज्जा आकर्षक और कृति संग्रहणीय है।

— डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

पुस्तक — चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक, अनुवादक — डॉ० सुरेश सिसोदिया, सम्पादक — प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक — आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान (ग्र० मा० सं० ६), पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राजस्थान), १९९१, आकार — डिमाई पेपरबैक, पृष्ठ — ४०+६८, मूल्य — ३५ रुपये मात्र।

चन्द्रवेध्यक-प्रकीर्णक प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। इस ग्रन्थ में निम्न

सात द्वारों से सात गुणों का वर्णन किया गया है —

(१) विनय गुण, (२) आचार्य गुण, (३) शिष्य गुण, (४) विनयनिग्रह गुण, (५) ज्ञान गुण, (६) चारित्र गुण और (७) मरण गुण।

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत प्रकीर्णक एक अध्यात्मसाधनापरक प्रकीर्णक है। इसमें मुख्य रूप से गुरु-शिष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं शिष्य को वैराग्य की दिशा में प्रेरित करने वाले उपदेशों का संकलन है, जो इस ग्रन्थ की आध्यात्मिक महत्ता को ही स्पष्ट करता है।

डॉ० सुरेश सिसोदिया ने प्रथम बार इसे हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० सिसोदिया ने चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक का अन्य आगम ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक विवरण देते हुए जो भूमिका लिखी है, उससे यह कृति उपयोगी बन गई है।

— डॉ० अशोक कुमार सिंह

पुस्तक — महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णक, लेखक — डॉ० सुरेश सिसोदिया, सम्पादक — प्रो० सागरमल जैन, प्रकाशक — आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान (ग्र० मा० सं० ७), पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राजस्थान), १९९२, आकार — डिमाई पेपरबैक, पृष्ठ — ५६+४७, मूल्य — ३५ रुपये मात्र।

महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख **नन्दीसूत्र** एवं **पाक्षिसूत्र** में प्राप्त होता है। दोनों ही ग्रन्थों में आवश्यक-व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत इसका उल्लेख मिलता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से **महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक** साधनाप्रधान ग्रन्थ है। इसमें मुख्य रूप से समाधिमरण तथा उसकी पूर्व प्रक्रिया का निर्देश उपलब्ध होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो साधक को समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा देती हैं। कुछ अन्य गाथाएँ ऐसी भी हैं जो आलोचना आदि का निर्देश करती हैं। वस्तुतः वे समाधिमरण की पूर्व प्रक्रिया के रूप में ही हैं। शेष अन्य गाथाओं का प्रयोजन साधक को समाधिमरण की स्थिति में अपनी मनोवृत्तियों को किस प्रकार रखना चाहिए, इसका निर्देश करना है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० सिसोदिया ने **महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक** का अन्य आगम-ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक विवरण देते हुए विस्तृत भूमिका लिखी है, जिससे यह ग्रन्थ उपयोगी एवं संग्रहणीय बन गया है।

पुस्तक — श्री दशलक्षणधर्मविधान, लेखक — श्री राजमल पवैया, प्रकाशक — तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल, संस्करण — प्रथम (१९९४), मूल्य — ५.०० रुपये।

जैन परम्परा में धर्म के दश लक्षण बताए गए हैं। उन्हें ही दशलक्षणधर्म कहा जाता

है। इनकी साधना पर उनके धर्म का प्रासाद खड़ा है। इनका इतना महत्त्व है कि इनके नाम से दिगम्बर परम्परा में प्रति वर्ष दशलक्षणपर्व मनाया जाता है। जैन ग्रन्थों में इन दश धर्मों के स्वरूप को बड़े ही सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। फिर भी जनसामान्य को इनके बारे में अधिक जानकारी नहीं है। श्री राजमल पवैया ने इस दिशा में सम्यक् प्रयास करके पद्य रूप में दश धर्मों के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। आशा है कि साधारण जन इससे दशधर्म की अवधारणा को समझकर धार्मिक आचरण में प्रवृत्त होंगे और इस प्रकार समाज में धर्म की प्रभावना होगी।

— डॉ० रज्जन कुमार

पुस्तक — श्रीपञ्चास्तिकायविधान, लेखक — श्री राजमल पवैया, प्रकाशन — तारादेवी पवैया ग्रंथमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल, संस्करण — प्रथम (१९९५), मूल्य — १६.०० रुपये।

आचार्य कुन्दकुन्दविरचित **पञ्चास्तिकाय** एक ऐसा आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जो जैनदर्शन की द्रव्य-व्यवस्था एवं पदार्थ-व्यवस्था का संक्षेप में प्राथमिक परिचय देता है। जिनागम में प्रतिपादित द्रव्य-व्यवस्था एवं पदार्थ-व्यवस्था की सम्यक् जानकारी बिना जैन साधना में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है। यह ग्रन्थ दो भागों में बँटा हुआ है। प्रथम भाग में षडद्रव्य-पञ्चास्तिकाय का वर्णन है और द्वितीय भाग में नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है। इस तरह पञ्च-अस्तिकायों, षट्-द्रव्यों एवं नव-पदार्थ की व्याख्या करने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का जैन दर्शन विशेष रूप से जैन तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

श्री राजमल पवैया जी ने पञ्चास्तिकाय की विषय-वस्तु को सामान्य पद्यात्मक रूप में प्रस्तुत करके बड़ा ही स्तुत्यपूर्ण कार्य किया है। इससे, प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ पाठक भी जैन दर्शन के हार्द को समझ सकेंगे। ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ से जनसामान्य विशेष रूप से कर्मकाण्ड से जुड़े हुए लोगों में भी जैन दर्शन के अध्ययन में रुचि अवश्य जागृत होगी।

— डॉ० रज्जन कुमार

पुस्तक — श्रीनियमसारविधान, लेखक — श्री राजमल पवैया, प्रकाशक — तारादेवी पवैया ग्रंथमाला, ४४, इब्राहिमपुर, भोपाल, संस्करण — प्रथम (वीर निर्वाण संवत् २५२१), मूल्य — १८.०० रुपये।

आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचनाओं में **नियमसार** का बहुत अधिक महत्त्व है। इसमें जैन दर्शन की मान्यताओं का विवेचन बड़े ही आकर्षक शैली में किया गया है। ऐसी धारणा है कि आचार्यप्रवर ने इस ग्रंथ की रचना आत्मानुभूति से प्रेरित होकर की थी। यद्यपि नियमसार का प्रतिपाद्य विषय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र ही है फिर भी इसमें

जैन दर्शन सम्बन्धी अन्य विवरण भी समाहित हैं। इस ग्रंथ में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार इन पाँच आचारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। यहाँ नियम शब्द का अर्थ मोक्षमार्ग है। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। इसमें शुद्धात्मा की आराधना को ही परमश्रेय माना गया है। इस तरह से यह एक पूर्ण आध्यात्मिक ग्रंथ है।

श्री राजमल पवैया जी ने नियमसार ग्रन्थ को काव्यरूप प्रदान कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने आत्मविषयक दुरूह तत्त्वों का निरूपण बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। यह आशा की जा सकती है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से जनसामान्य में अध्यात्म रुचि का विकास होगा।

— डॉ० रज्जन कुमार

साभार स्वीकार

पुस्तक — ग्रहशान्ति (पूजा-विधि-सहित)

लेखक — श्री भद्रबाहु स्वामी

सम्पादक — श्री विजय कुमार जैन दुग्गड़ अम्बालवी

प्रकाशक — श्री आत्मवल्लभ जैन धार्मिक पाठशाला, अम्बाला शहर
(हरियाणा) — १३४ ००२

प्रथम संस्करण — १९९५, मूल्य — रु० १०.००

पुस्तक — आत्मवल्लभ संगीत सुधा

लेखक — प्रो० रामकुमार जैन 'राम'

प्रकाशक — श्री आत्मवल्लभ जैन धार्मिक पाठशाला, वल्लभ निकेतन, अम्बाला शहर (हरियाणा)

प्रथम संस्करण — १९९५, मूल्य — रु० २०.००

पुस्तक — सागर पे नज़र हो सदा

संकलन एवं सम्पादन — महेन्द्र कुमार मस्त

प्रकाशक — सदाराम सागरचन्द्र सुरेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट, देवदर्शन धूप इण्डस्ट्रीज,
३२४ इण्डस्ट्रियल एरिया-११, चण्डीगढ़।





जैन जगत्

आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी म० की जयन्ती पर विविध कार्यक्रम

पानीपत १ अगस्त : जैनधर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् स्वर्गीय श्री आनन्दऋषि जी महाराज की ९६ वीं जयन्ती अत्यन्त उल्लासपूर्वक मनायी गयी। इस पावन अवसर पर श्री नरेश मुनिजी म०, डॉ० श्री राजेन्द्रमुनिजी म०, उपप्रवर्तिनी महासती श्री रविरश्मि जी महाराज, युवा कांग्रेस की हरियाणा शाखा के प्रधान श्री सुखवीर जैन, कॉन्फ्रेंस के उपाध्यक्ष श्री आर० डी० जैन, श्री राजेन्द्र कुमार जैन आदि ने आचार्य को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा कि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज जैन जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र थे। भारत सरकार के ग्रामीण रोजगार राज्यमंत्री श्री उत्तमभाई पटेल ने कहा कि महाराष्ट्र में उत्पन्न इस महासंत ने सम्पूर्ण विश्व को अपनी चारित्रिक गरिमा से एक नई दिशा दी। आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्रमुनि जी म० ने श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करते हुए कहा कि उनके जीवन के प्रत्येक कण में त्याग की निर्मल आभा विद्यमान थी। इस अवसर पर जैन कॉन्फ्रेंस के हरियाणा शाखा की ओर से विकलांग और पोलियो शिविर भी लगाया गया जिसमें अनेक लोगों की चिकित्सा की गयी एवं जरूरतमंद लोगों को कृत्रिम हाथ, पैर, व्हील-चेयर, बैसाखी आदि प्रदान की गयी। इसी अवसर पर आचार्य देवेन्द्रमुनि जी म० की कृतियों — दीपशिखा, ज्योतिकण, मुट्टी में तकदीर आदि का लोकार्पण किया गया एवं श्री उत्तमभाई पटेल को उपाध्याय पुष्करमुनि स्मृतिग्रन्थ समर्पित किया गया।

श्री देवकुमार कासलीवाल अमृतमहोत्सव कार्यक्रम

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के संस्थापक, मकसी पार्श्वनाथ, कुण्डलपुर, सिद्धवरकूट बावनगजाजी आदि दिगम्बर जैन तीर्थों के संरक्षक तथा विकासकर्ता, महावीर ट्रस्ट के माध्यम से विभिन्न सांस्कृतिक क्रियाकलापों के सञ्चालक, मध्य भारत हिन्दी समिति, रॉबर्ट्स नर्सिंग होम आदि संस्थाओं के प्रमुख सहयोगी, जैनरत्न, समाजरत्न, श्रावक शिरोमणि आदि उपाधियों से विभूषित श्रीदेवकुमार जी कासलीवाल के सम्मानार्थ उनके ७५ वें जन्मदिन पर दि० २९ अक्टूबर १९९५ को इन्दौर में एक भव्य अमृतमहोत्सव कार्यक्रम का आयोजन किया गया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार श्री कासलीवाल जी के शतायु होने के साथ-साथ उक्त अमृतमहोत्सव कार्यक्रम के सफलता की कामना करता है।

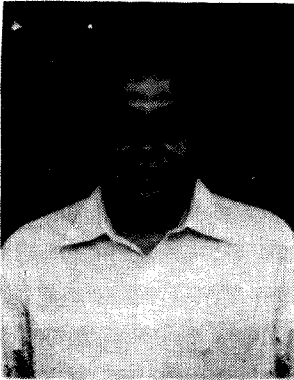
मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी म० सा० की १०५ वीं जयन्ती सम्पन्न

दिनांक ९ अगस्त, श्रावक चतुर्दशी को श्रमण संघ के महाप्राण, मरुधर केसरी श्री

श्री मिश्रीमल जी म० की १०५ वीं जयन्ती का मंगलमय आयोजन बहुत ही उल्लास के साथ मनाया गया। सर्वप्रथम पं० श्री नरेश मुनि जी म० ने मरुधरकेसरी जी म० के जीवन पर प्रकाश डालते हुए कहा कि मरुधर केसरी जी म० श्रमणसंघ के एक ऐसे महापुरुष थे जिनके जीवन में अपार उदारता थी। जो भी उनके चरणों में पहुँच जाता था, वे उसे बहुत ही स्नेह और सद्भावना के साथ उसकी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करते थे।

आचार्यश्री देवेन्द्रमुनि ने मरुधर केसरी जी म० के प्रति श्रद्धासुमन समर्पित करते हुए कहा — मरुधर केसरी जी म० श्रमणसंघ के भीष्म पितामह थे, वे दया के देवता थे, मानवता के मसीहा थे, संगठन के सजग प्रहरी थे, समाज चेतना के प्राण थे, वे लौह पुरुष थे। समाज में फैल रही बुराईयों से वे सदा जूझते रहे। अपने मंगलमय ओजस्वी तजस्वी भाषणों के द्वारा जनचेतना में जागृति का शंख फूंकते रहे।

परमविदुषी महासती उपप्रवर्तिनी श्री रविरश्मि जी म० ने श्रद्धा सुमन समर्पित किया। कई श्रद्धालुओं ने अपने हृदय से उनके चरणों में भावाञ्जलि समर्पित की तथा एकासन दिवस के रूप में जयन्ती कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।



श्री किशोर चन्द्र एम० वर्धन भारत जैन महामंडल के अध्यक्ष निर्वाचित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ तथा जैन समुदाय की विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं से विभिन्न रूपों में सम्बद्ध श्री किशोर एम० वर्धन को अखिल भारतीय भारत जैन महामण्डल का सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना गया। इस गौरवपूर्ण पद पर श्री वर्धन जी के निर्वाचित होने पर विद्यापीठ परिवार उनका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

क्षमा प्रदान करने से मानव पवित्र होता है — आचार्य देवेन्द्र मुनि

पानीपत (हरियाणा), २९/८/९५ को गांधी मण्डी पानीपत में विशाल धर्म सभा को सम्बोधित करते हुए जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्रमुनि जी म० ने कहा, क्षमा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। मानव की मानवता के पूर्ण दर्शन क्षमा में ही हो सकते हैं। ब्रह्म मानव क्या जो जरा सी बात पर ही उबल पड़ता हो, वैर विरोध की आग भड़काता हो, स्वयं उस आग में जलता हो और दूसरों को भी जलाता हो। क्षमाहीन मानव पशुओं से भी गया गुजरा है। क्षमा का अर्थ है क्रोध न करना, क्रोध न करने से आत्मा में जो शान्तिरूपी पर्याय प्रकट होती है, वह क्षमा है।

आचार्यश्री ने आगे कहा कि क्षमाशील व्यक्ति सहनशील भी होता है। किसी के द्वारा किये गये अपराध को भूल जाता है तथा दूसरों के द्वारा किये गये अनुचित व्यवहार पर

ध्यान न देकर स्नेह की वर्षा करता है। बिना क्षमा के मानवता की लता पनप नहीं सकती।

आचार्यश्री ने आगे कहा कोई भी संकट क्षमावान को हिला नहीं सकता। क्षमा और बुजदिली में तो आकाश पाताल का अन्तर है। बुजदिली में घबराहट होती है, चंचलता होती है, क्षमावान में धैर्य होती है, अविचलता होती है। जिसका हृदय पृथ्वी की तरह स्थिर होता है वही क्षमावान हो सकता है। क्षमा बड़े व्यक्ति की निशानी है। महान् व्यक्ति ही क्षमा दे सकता है। किसी भी व्यक्ति को मानसिक, वाचिक या कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उसके लिए उससे मन शुद्ध पवित्र करके क्षमायाचना करनी चाहिए।

अभिन्दन एवं पुरस्कार

श्री हजारीमल बाँठिया अभिनन्दन समारोह सम्पन्न

प्रसिद्ध समाजसेवी, विभिन्न सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रमों के संचालक तथा पांचाल शोध संस्थान के संस्थापक, साहित्य रसिक और कुशल व्यवसायी श्री हजारीमल बाँठिया का उनके ७२ वें जन्मदिन पर कानपुर में दि० २९ सितम्बर को स्थानीय राजस्थान भवन में विभिन्न संस्थाओं और समाज की ओर से अभिनन्दन किया गया। पूर्वसांसद श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने इस समारोह की अध्यक्षता की। इस अवसर पर श्री मनसुखभाई कोठारी, श्री जुगलकिशोर परसरामपुरिया, श्री ललितनाहटा, श्री एस० के० जैन, श्री वी० के० पारिख, श्री जे० एस० झवेरी, श्री जी० एस० जौहरी, डॉ० प्रतापनारायण टण्डन आदि अनेक महानुभावों ने श्री बाँठियाजी को माल्यार्पण कर उन्हें शुभकामनायें दीं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से निदेशक प्रो० सागरमल जैन तथा प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय इस समारोह में विशेष रूप से उपस्थित रहे। वीरायतन की अधिष्ठाता आचार्य चन्दनाजी, श्री बाँठिया जी के शतायु होने की कामना करते हुए भारतीय संस्कृति पर विकृत पश्चिमी सभ्यता के कुप्रभाव को तुरन्त रोकने का आह्वान किया। इस अवसर पर श्री बाँठियाजी को एक लाख रुपये की सम्मान-निधि भेंट की गयी जिसमें उन्होंने अपनी ओर से ग्यारह हजार और मिलकर पाञ्चाल शोध संस्थान को समर्पित कर दी। इसी प्रकार वीरायतन की ओर से भी ग्यारह हजार की राशि उन्हें भेंट की गयी जिसमें दस हजार रुपये और मिलकर उन्होंने वीरायतन को वापस समर्पित कर दी। इस अवसर पर श्री बाँठियाजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ भी भेंट किया गया।

वीरायतन को "भगवान् महावीर फाउण्डेशन" का प्रथम अवार्ड

अपनी विशिष्ट दान शैली के लिये प्रख्यात, मद्रास के प्रसिद्ध समाजसेवी श्री सुगाल चन्द जैन ने विगत दिनों महावीर फाउण्डेशन का गठन किया, जिसका उद्देश्य, अहिंसा, शैक्षणिक, स्वास्थ्य व सामाजिक कार्यों में अपनी सेवायें प्रदान करने वाले व्यक्ति या संस्थाओं को सम्मानित करते हुए उन्हें प्रोत्साहित करना है। इसके अन्तर्गत चयनित व्यक्ति या संस्था को पाँच लाख रुपये नकद, स्मृतिचिन्ह एवं प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जाता है। वर्ष १९९५ का यह पुरस्कार वीरायतन को प्रदान किया गया है। वर्ष १९७५ में उपाध्याय

अमरमुनि और आचार्य चन्दनाजी द्वारा स्थापित यह संस्थान शिक्षा, स्वास्थ्य और समाजकल्याण के क्षेत्र में अपनी स्थापना के समय से ही नये कीर्तिमान स्थापित कर रहा है। वीरायतन की एक शाखा 'नेत्रज्योतिसेवामन्दिरम्' द्वारा अब तक साढ़े पाँच लाख व्यक्ति लाभ उठा चुके हैं। परमार्थ के जीवन्तस्वरूप वीरायतन को उक्त सम्मान देकर वस्तुतः भगवान महावीर फाउण्डेशन एवं उसके पदाधिकारियों ने एक स्तुत्य कार्य किया है।

डॉ० सुरेश सिसोदिया चम्पालाल सांड स्मृति साहित्य पुरस्कार से सम्मानित

आगम, अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर के शोध अधिकारी डॉ० सुरेश सिसोदिया की कृति 'जैन धर्म के सम्प्रदाय' को श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा अपने ३३ वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दिनांक २६ सितम्बर ९५ को बीकानेर में आयोजित एक भव्य समारोह में वर्ष १९९३ के चम्पालाल सांड स्मृति साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पुरस्कारस्वरूप डॉ० सिसोदिया को ग्यारह हजार रुपये नकद एवं अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया।



समारोह में प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० सुरेश सिसोदिया द्वारा सम्पादित "प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा" तथा डॉ० सिसोदिया द्वारा अनूदित "संस्तारक प्रकीर्णक" पुस्तक का लोकार्पण भी किया गया।

ज्ञातव्य है कि डॉ० सिसोदिया ने अपने द्वारा लिखित, अनुवादित एवं सम्पादित— (१) देवेन्द्रस्तवप्रकीर्णक, (२) चन्द्रवेधकप्रकीर्णक, (३) महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णक, (४) द्वीपसागरप्रज्ञप्तिप्रकीर्णक, (५) गच्छाचारप्रकीर्णक, (६) जैन धर्म के सम्प्रदाय, (७) प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा तथा (८) संस्तारकप्रकीर्णक आदि सभी पुस्तकों का लेखन एवं प्रकाशन कार्य पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के निदेशक प्रो० सागरमल जैन के कुशल मार्गदर्शन में सम्पन्न किया है। डॉ० सिसोदिया को चम्पालाल सांड स्मृति साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किये जाने पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से बहुत-बहुत बधाई।

पुरस्कार योजना

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, दिगम्बर जैन धर्म, दर्शन, इतिहास एवं संस्कृति आदि से सम्बद्ध विषयों पर विद्वानों द्वारा लिखित, अनुदित, सम्पादित तथा ई० १९९०-१९९४ में प्रकाशित कृतियाँ पुरस्कार (पाँच हजार और तीन हजार रुपये के दो पुरस्कार) हेतु आमन्त्रित करती है। इच्छुक विद्वान निम्न सूचनाओं के साथ ग्रन्थ की चार प्रतियाँ १५ नवम्बर १९९५ तक निम्नलिखित प्रारूप को भरकर निम्न पते पर भेज सकते हैं।

१. आवेदक का नाम

२. पता
 ३. ग्रन्थ का नाम
 ४. मौलिक रचना/अनुवाद/सम्पादन/समीक्षा
 ५. भाषा
 ६. विषय
 ७. अन्य विवरण
- पुरस्कार समिति का निर्णय सर्वमान्य होगा।

डॉ० सुदर्शन लाल जैन
मंत्री, अ० भा० दि० जैन वि० प०, सेन्ट्रल स्कूल कॉलोनी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैन आगम-साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा संगोष्ठी सम्पन्न

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, उदयपुर, राजस्थान द्वारा आयोजित "जैन आगम साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा" नामक द्वि-दिवसीय संगोष्ठी, श्रमण संघीय महामंत्री श्री सौभाग्यमुनि जी 'कुमुद' के सान्निध्य में दिनांक ४-५ नवम्बर को श्री अम्बा गुरु शोध संस्थान, उदयपुर में सम्पन्न हुई। संगोष्ठी का उद्घाटन महन्त श्री मुरली मनोहर शरण शास्त्री एवं समापन श्री चेतनदेव जी उपाध्याय, जेल अधीक्षक, उदयपुर ने किया। इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न अंचलों से आये अनेक विद्वानों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किए। इस द्वि-दिवसीय संगोष्ठी में प्रो० सागरमल जैन, प्रो० सुरेन्द्र वर्मा, डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० रज्जन कुमार — सभी वाराणसी, प्रो० दयानन्द भार्गव, डॉ० धर्मचन्द जैन — जोधपुर, डॉ० जिनेन्द्र कुमार जैन — लाडनूँ, डॉ० अरुणा आनन्द — दिल्ली, प्रो० प्रेमसुमन जैन, डॉ० उदयचन्द जैन, डॉ० हुकुमचन्द जैन, डॉ० सुरेश सिसोदिया, डॉ० सुभाष कोठारी, श्रीमानमल कुदाल, श्रीमती मंजु सिरिया एवं श्रीमती पारसमणी खींचा — उदयपुर आदि विद्वानों ने भाग लिया एवं अपने शोधपत्र प्रस्तुत किए। संगोष्ठी में मूलतः जैन आगमों के विभिन्न पक्षों पर विद्वानों के द्वारा प्रकाश डाला गया। उनका निष्कर्ष था कि जैन आगम न केवल जैन धर्म और दर्शन की अवधारणों को प्रस्तुत करते हैं, अपितु उनमें भारतीय समाज और संस्कृति से सम्बन्धित विपुल सामग्री भी सन्निहित है।

इस उच्चस्तरीय संगोष्ठी के सफल होने का सारा श्रेय श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' एवं डॉ० सुरेश सिसोदिया को है। संगोष्ठी की विशेष व्यवस्था के लिए श्री वर्द्धमान स्थानकवासी, जैन श्रावक संघ, उदयपुर बधाई का पात्र है।

शोक समाचार

महासती प्रकाशवती जी म० सा० का स्वर्गवास

महासती श्री प्रकाशवती जी म० सा० का १० अगस्त को उदयपुर में समाधिपूर्वक

स्वर्गवास हो गया। दि० ११ अगस्त को पानीपत, हरियाणा में उनकी स्मृति में एक श्रद्धाञ्जलि सभा का आयोजन किया गया जिसमें आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी० म०, श्री नरेशमुनि जी महाराज, उपप्रवर्तक डॉ० राजेन्द्रमुनि जी म०, श्री रमेशमुनि जी म०, उपप्रवर्तिनी श्री रविरश्मि जी म० तथा स्थानीय जैन समाज के प्रमुख लोगों ने स्वर्गीय महासती जी के गुणों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। ज्ञातव्य है कि स्वर्गीय महासती जी आचार्य देवेन्द्रमुनि जी महाराज की संसारपक्षीय फुफेरी बहन और उपप्रवर्तक डॉ० राजेन्द्रमुनि जी म० सा० एवं रमेश मुनि जी म० सा० की संसारपक्षीय माता थीं।

श्रीमती रुक्मिणी देवी दीपचन्द गार्डी दिवंगत

प्रसिद्ध एवं कर्मठ समाजसेवी श्री दीपचन्द जी गार्डी की पत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी का विगत दिनों यू० एस० ए० में स्वर्गवास हो गया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, श्रीमती गार्डी के असामयिक मृत्यु पर अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है। संस्थान में श्रीमती गार्डी के नाम पर एक प्राकृत एवं जैन विद्या उच्च अध्ययन केन्द्र की स्थापना सन् १९८९ में हुई। भवन की ऊपरी मंजिल के निर्माण के लिए भी रु० ५ लाख का आर्थिक अनुदान श्री दीपचन्द गार्डी द्वारा संस्थान को प्रदान किया गया। संस्थान के प्रति गार्डी परिवार की शुभेच्छा एवं आत्मीयता को देखते हुए संस्थान श्रीमती गार्डी के निधन को अपनी व्यक्तिगत क्षति मानता है। समस्त विद्यापीठ परिवार दिवंगत आत्मा की शान्ति हेतु प्रार्थना करता है। इस सन्दर्भ में संस्थान में एक शोकसभा के माध्यम से श्रीमती गार्डी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई तथा उनके अस्थिकलश के प्रदर्शन के पश्चात् उनकी अस्थियाँ पवित्र गंगा में विसर्जित कर दी गईं।

मृत्यु महोत्सव

जैन विद्या के मनीषी विद्वान सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ने कुण्डलपुर (दमोह) में सुप्रसिद्ध सन्त १०८ आचार्य विद्यासागर महाराज जी के सान्निध्य में दिनांक ७-१०-९५ को सायं मृत्यु का वरण किया। पण्डित जी जीवन भर जैन धर्म एवं दर्शन के अध्ययन-अध्यापन, मनन और चिन्तन में निरत रहे। मात्र यही नहीं, उन्होंने उसे जीने का भी प्रयास किया। अन्त में जैन परम्परा के अनुसार समाधि धारण कर उन्होंने अपनी मृत्यु को भी महोत्सव के रूप में परिवर्तित कर दिया।

उनकी स्मृति में पार्श्वनाथ विद्यापीठ में श्रद्धाञ्जलि सभा की गयी। प्रो० सागरमल जैन ने पण्डित जी की विद्वत्ता, साहित्य साधना एवं आचार निष्ठा पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। तत्पश्चात् दिवंगत आत्मा के शान्तिलाभ की मंगलकामना की गयी।

श्रीमती भँवरीदेवी भंशाली का निधन

श्री जैन सभा कलकत्ता के अध्यक्ष श्री रिखबदास जी भंशाली की धर्मपत्नी श्रीमती भँवरी देवी के निधन पर दि० १५ अगस्त को जैन सभा के सभागार में एक श्रद्धाञ्जलि सभा का आयोजन किया गया। जिसमें समग्र जैन समाज के प्रतिनिधियों ने उनके सद्गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

श्रीमती सुधा राजकुमार बड़जात्या दिवंगत

राजश्री प्रोडक्शन्स के जाने माने फिल्म प्रोड्यूसर श्री सूरज बड़जात्या की माताश्री एवं श्री सौभाग्यमल जी पाटनी की सुपुत्री श्रीमती सुधा राजकुमार बड़जात्या का दिनांक २३ अक्टूबर १९९५ को बम्बई में निधन हो गया। आप अत्यन्त धर्मपरायण एवं उदारमना थीं। आपने अपने जीवनकाल में साढ़े पाँच लाख रुपये धार्मिक कार्यों हेतु अपने पिताश्री को दिए थे। पिताश्री श्री सौभाग्यमल पाटनी ने उसमें साढ़े पाँच लाख रुपये और मिलाकर कुल ग्यारह लाख रुपये का एक ट्रस्ट स्थापित किया है जो धार्मिक कार्यों के लिए समर्पित होगा।

श्री छगनलाल जी वैद दिवंगत

श्री जैन सभा एवं साधुमार्गी जैन संघ के पूर्व अध्यक्ष श्री छगनलाल जी वैद का पिछले दिनों देहावसान हो गया। उनकी स्मृति में दि० २३ अगस्त को श्री श्वे० स्थानकवासी जैन सभा के सुकियसलेन, कलकत्ता स्थित सभागार में एक स्मृतिसभा आयोजित की गयी जिसमें समग्र जैन समाज के प्रतिनिधियों ने उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके स्वर्गवास को एक अपूरणीय क्षति बतलाया।

पत्राचार पाठ्यक्रम में प्रवेश सम्बन्धी सूचना

जैन विद्या संस्थान के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा “पत्राचार अपभ्रंश सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम” का चौथा सत्र १ जनवरी १९९६ से प्रारम्भ हो रहा है जिसमें हिन्दी तथा अन्य भाषाओं एवं विषयों के प्राध्यापक, शोधार्थी एवं संस्थाओं में कार्यरत विद्वान सम्मिलित हो सकेंगे। इस सम्बन्ध में नियमावली तथा आवेदन पत्र, अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई मानसिंह मार्ग, जयपुर से प्राप्त किये जा सकते हैं। कार्यालय में आवेदन पत्र पहुँचने की अन्तिम तिथि १५ अक्टूबर १९९५ निर्धारित की गयी है।

विद्यापीठ के प्रांगण में

यह प्रसन्नता का विषय है कि अगस्त, १९९५ से विद्यापीठ के सभी विभागों में शिक्षण-कार्य प्रारम्भ हो गया है। सभी विभागों में अपेक्षित संख्या में विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया है। हमारे लिये यह भी प्रसन्नता का विषय है कि इस वर्ष विचक्षणमणि, बहुश्रुत साध्वी श्री मणिप्रभाश्री जी एवं सज्जनमणि साध्वी श्री शशिप्रभाश्री जी की सात शिष्याएँ — साध्वी श्री प्रियदर्शनाश्री जी, साध्वी श्रीविद्युतप्रभाश्री जी, साध्वी श्रीमृदुलाश्री जी, साध्वी श्रीसौम्यगुणाश्री जी, साध्वी श्री अतुलप्रभाश्री जी, साध्वी श्रीस्थितप्रज्ञाश्री जी और साध्वी श्रीसिद्धप्रज्ञाश्री जी अष्ट ययनार्थ विद्यापीठ में निवास कर रही हैं। साध्वी श्रीविद्युतप्रभाश्री जी ‘जीवसमास’ का अनुवाद एवं सम्पादन कर रही हैं तथा साध्वी श्री सौम्यगुणाश्री जी ‘विधिमार्गप्रपा’ पर पी-एच० डी० कर रही हैं। साध्वियों के इस आगमन एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं के प्रारम्भ हो जाने से संस्थान की गतिविधियों में एक नवचेतना का संचार हुआ है।

साध्वी वर्ग, छात्र एवं अध्यापक सभी निष्ठा से अपने कार्य में जुड़े हुए हैं।

ŚRAMAᅇA

Third Monthly Research Journal of Pārśvanātha Vidyāpītha

Volume 10 - 12]

[October - December, 1995

General Editor

Prof. Sagarmal Jain

Editors

Dr. Ashok Kumar Singh

Dr. Shriprakash Pandey

Pārśvanātha Vidyāpītha

I. T. I. Road, Karaundi

P. O. B. H. U. Varanasi-221005

Phone- 311462

Fax- 0542-311462

ŚRAMAᅇA

English Section

Articles of this Volume

1. **Meaning and Typology of Violence** 81 - 86
Dr. Surendra Verma
2. **Paᅇis and Jainas** 87 - 89
Dr. S. P. Naranga
3. **Sādhnā of Mahāvira as Depicted in Upadhāna Śruta** 90 - 98
Dr. A. K. Singh
4. **Select Vyāntara Devatās in Early Indian Art and Literature** 99 - 103
Dr. Nandini Mehta
5. **Srī Hanumāna in Padmapurāna** 104 - 117
Surendra Kumar Garga



Meaning and Typology of Violence

*Dr. Surendra Verma**

Johan Galtung, a celebrated peace researcher, in his article "Violence, Peace and Peace Research" has stated that peace is absence of violence. This, of course, is, not a definition of peace since it is a clear case of what he calls *obscurum per obscurius*. What is intended is only that the terms 'peace' and 'violence' be linked together in such a manner that peace can be regarded as absence of violence.¹

Peace, of course, is a broad concept and has many dimensions, but when we think of peace-action, or, peace-movement, or, peace-research, the concept of peace must be specific enough to serve as a basis for concrete action. Hence 'peace' is to be specified. Regarding peace as absence of violence is really making peace a little more 'tangible'. Peace-action now will be an action against violence; peace-research will be a research which is conducive in narrowing down the circle of violence in a particular region; and peace-movement will be a movement in the direction of minimizing violence in society in general.

Every thing now hinges on making a definition of violence. Johan Galtung defines violence as "the cause of the difference between the potential and the actual, between what could have been and what is."² According to him, violence, thus, is present when human beings are being influenced so that their actual somatic and mental realizations are below their potential realizations. Suppose a person belonging to a particular caste, if is deprived of higher education, irrespective of his high ability, by virtue of being a member of a particular caste — this, then, will be a case of violence of the caste-system which is the cause of the difference between the potential and the actual of the individual concerned.

The above definition of violence can serve as a good working hypothesis of peace-action/research/movement. In order to make things clearer Galtung has also given various types of violence. The typology of violence

indicates very many dimensions of violence. Thus, the distinctions between physical and psychological violence, negative and positive violence, violence with or without a subject committing it directly, violence with or without an object suffering it directly, intended and unintended violence, manifest and latent violence and finally, personal and structural violence, are made. The last distinction is very important indeed from the perspective of peace.³

We are not here concerned with the details of these types of violence. What we propose to deal in this paper is, firstly, whether the definition of violence given by Galtung has any relevance to the Jaina Weltanschauung and secondly, whether his various dimensions of violence correspond broadly with the types of violence mentioned in the Jaina scriptures.

Jainism, as we all know, is a way of life which gives a very high premium to non-violence. But before we examine the meaning and typology of violence in Jainism, it is probably necessary that we make a search into its view of human nature.

In a Jaina text known as, *Bhagavati Sūtra*, there is a conversation between Lord Mahāvīra and his disciple, Gautama. Gautama asks Mahāvīra, "What is the nature of self?" and Mahāvīra answers, "O ! Gautama, the nature of self is *Samatva* and *Samatva* is also the ultimate purpose that self has to realize.

Now the concept of *Samatva* occupies a very central place in the Jaina philosophy. As a matter of fact the whole of the Jaina thought revolves round this concept. It has many dimensions and many shades of meaning. *Samatva*, on the one hand, has individual and social dimensions and of the other hand, may mean, as per context, equality, harmony, equanimity or even perfection.

When Mahāvīra says that the nature of self is *Samatva*, he is, of course, trying to emphasize that self is to maintain identity with itself. But unfortunately self, instead of remaining with itself, identifies itself with the 'not-self' or the 'other'. This is a clear-cut violation of the rule; and anything which is responsible for this separating the self from itself can, therefore, be treated as violence. Not that the self has not the potential to identify with self. As a matter of fact the self is at peace only it is 'placed' as if, in its proper place, i. e., in itself. But somehow or other the self is not able to actualize its potentiality. This is, of course, not said in so many words in Jainism. But if

the argument is formed in the present form it would be perfectly in tune with the spirit of Jainism.

We, thus, find that violence in the Jaina philosophy also, is nothing but " the cause of the difference between the potential and the actual, between what could have been and what is." Self is, at present, bonded with its own *Karmas* and mistakenly identifies itself with the 'not self'. But it has an inherent potential to overcome its weaknesses and actualize itself by identifying itself with itself. This is *samatva* — the identification of self with self. This can be achieved only when the self overcomes its weaknesses. The primary weakness of self is its 'attachment' to the 'other' things. This attachment is really violence. That is why in *Tattvārtha-sūtra* violence is defined as something which is essentially *pramattayogāt*, i. e., yoked with attachment. This attachment identifies the self with the 'not-self' and it is because of this identification with the 'other' that we try to collect and possess as many things or objects as possible. Possession, thus, is also attachment — *mūrchā parigrahāt*.⁶

Possession is infatuation. Thus, it can safely be said that ultimately that which comes between the potential self to actualize itself is 'attachment' and attachment is what makes real violence. Violence is not something somatic only. It is the element of *mūrchā* or *pramattva* in the act of hurting which puts it in the category of violence.

As we have already indicated the term *samatva* has more than one connotation. *Samatva* also means tranquility of 'self'; and naturally the tranquility of self can be achieved when mind is not being disturbed with things which are 'not self'. In other words when mind remains steadfast with itself, it enjoys tranquility. Thus, the state of *samatva* is non-violence and anything which comes in between the self and its realization is violence or *viṣamatā* (opposite of *samatava*). *Samatva* and non-violence (*ahimsā*) go hand to hand.⁷

If violence is defined as that which causes the potential self not to achieve or actualize itself, violence ceases to be merely a physical entity. Hurting somebody physically in such a manner that it becomes the cause of his non-achievement of something that he could have achieved, is, no doubt, violence by our definition. But according to Jainism this violence must have its essential relation with the actor's 'delusion'. This shows that violence is something not merely somatic but has its psychological aspect also.

Jainism, therefore, makes a distinction between *Dravya Himsā* and *Bhāva Himsā* — the substantive violence and the dispositional violence. Hurting someone somatically to the point of killing, is, what is called substantive *himsā*. This type of violence works on the body of the sufferer. But there is also the psychological violence which from the actor's point of view makes the person frazy (*pramatta*) with a violent attitude, and from the sufferer's point of view makes the victim fearful and timid.

Jainism also makes a distinction between the three instruments of violence⁸—*mana*, *vacana* and *kāya* — mind, speech and body. Violence when associated with mind is psychological, when associated with speech is verbal and when associated with body, it is somatic. Mind, Speech and Body are the three 'instruments' through which we commit violence. Hurting bodily is not the only form of violence. Hurting through speech (e. g. abusive language), or, even hurting psychologically are also forms of violence.

The third dimension is made in relation to the act of violence itself. There is, first, the intention to undertake violence. This is technically known as *samārambha*. Then, secondly, there is the preparation for committing violence, known as, *samārambha*. *Samārambha* refers to the means, the plans and the design to undertake violence; and, finally, there is the actual act of violence itself — *ārambha*. Now this distinction between the intention, the plan and the act itself of violence clearly shows that violence first of all takes place in the mind of the actor. It is his intention to act violently which compels him to plan it and commit it. Violence, worth its name, is never un-intentioned.

The fourth distinction is made according to the pungent despositions which are essentially and organically related with violence. Thus, there is violence due to anger — *krodha*; due to conceit — *moha*; due to greed — *lobha* and due to crookedness — *māyā*. All these are astringent passions, known as *kaṣāya* in Jainism. Under the influence of these *kaṣāyas* an individual is motivated for violence. These *kaṣāyas* being, as if, 'agents' of violence are the real culprits. Violence when gets associated with them becomes an obstruction in the way of self to realize itself.

The obstruction may be overwhelming or mild as per intensity of a given desposition. When the intensity of the passion, say anger, is very severe (*anantānubandhi*) it can even obstruct the right attitude of a person. The

individual then will not be able to distinguish between what is right and what is wrong; and may not even try for his realization or release. But when the intensity does not blind the one in taking the right attitude, it may obstruct the discipline of the house-holder partially. This type of violence which deters the house-holder to follow the required prescriptions necessary for controlling his behaviour is known as *apratyākhyāni* — the violence which compels the house-holder to go back to a life of indiscipline. This is also quite a damaging type of violence. But some times the violence, i. e., intensity involved in the passions, that causes the obstruction, is not so strong as to become a hinderance in taking the right attitude and/or in obeying the prescriptions of the house-holder, may at the same time be intense enough to create obstructions in the discipline of the monks. This is known as *pratyākhyāni*, i. e., a type of violence that conceals the right vision of the monk and makes him step down from his position. The last but not the least type of violence is of mild intensity which though does not compel the monk to forgo his monkhood, but it surely creates an obstruction in the attainment of liberation, this is known as *sañjavalana*.

Whatever the case may be, violence is characterised in the present typology with the intensity of the *kaṣāya* which obstructs the royal road of realization. It creates a gap between the potentiality and the actuality.⁹

We have tried so far to show that the definition of violence as "the cause of the difference between the potential and the actual, between what could have been and what is" fits well into the scheme of Jaina philosophy. We have also tried to show that in Jainism violence does not mean merely hurting a person somatically but it also involves a psychological factor in the 'actor', the 'sufferer' and the 'act' of violence. The actor has the desposition, the sufferer is hurt mentally and intention is part of the act of violence. All these aspects or dimensions are to be taken together in order to understand violence as a whole.

The various dimensions of violence enumerated by Johan Galtung correspond roughly with the typologies framed in Jainism. But there is one important difference. Galtung distinguishes between the individual and the structural violence. The structural violence is the built-in violence in the very structure of a given society. It works as an obstruction in the realization of potentialities; but goes unrecognized by the 'actor' as well as the 'sufferer'.

There is no mention of this type of structural violence in Jainism. As a matter of fact, Jainism is more concerned, or, rather pre-occupied by the conception of *mokṣa*, or, the realization of self. And, as such, it has emphasized only those agents of violence (viz. *kaṣāya*) which cause hindrance in such a realization. We can very well 'see' their role in society also as to how do these dispositions are responsible in creating gulf between individual and individual, between individual and society and so on. But this would be an extension of the Jaina thought. We may hope that some research scholars of peace may take up this aspect and enrich the Jaina Philosophy in its social perspective also.

References

1. Galtung, Johan : "Violence, Peace and Peace Research", paper published in *Contemporary Peace Research*, ed. by Ghanashyam Paradesi, Radiant Publishers, New Delhi, 1982, p. 94.
2. *Ibid*, p. 96.
3. *Ibid*, pp. 97-102.
4. *Bhagavatī-sūtra* (*Bhagavai*), Jaina Vishva Bharati, Ladanun, 1/9.
5. Sanghavi, Pt. Sukhalal (ed. by), *Tattvārtha-sūtra*, Varanasi, 1985, p. 172.
6. *Ibid*, p. 178.
7. *Samaṇasuttam*, Sarva Seva Sangh, Varanasi, 1989, *Sūtram* 147 — "*Ahimsāmayam ceva, etāvante viyāṇiyā*", p. 46.
8. See, *Sarvārtha-siddhi*, 6. 8 and also *Jñānārṇava*, 1. 8. 10 for the typologies of violence.
9. See, Jain Dr. Kamla, *The Concept of Pañcaśīla in Indian Thought*, P. V. Research Institute, Varanasi, 1983, p. 54.

* Professor, Parshvanath Vidyapeeth

Varanasi - 5



Panis and Jainas

*S. P. Narang**

Here is an attempt to investigate the relationship of the *Panis* mentioned in the Vedas with the Jaina community which in my opinion had been an inhabitant of India particularly in the area of Indus Valley Civilization and there are clues that they later migrated to various parts of India together with their religion, economy & culture. The earlier researches have shown that there had been contacts between Indian & Sumerian culture particularly the affinity of the language as it is shown from the scholars like Brown, Ipsen & Ayyar. The relations of Syria with India has been established by Friedrich, Skold and R. G. Bhandar-rakar whereas Brunnhofer established the relationship with Armenians. Waddell thinks that phoenicians had been visiting India. Perhaps they might have been the trade community established in India before the Aryans who might have established themselves in Indus region with agriculture as their profession particularly the cows and Ghee as their leading profession. The relationship with Babyloania has been established by Kennedy, Sen, Sayce & Kretschmer who think that they settled themselves in Iran & Varuna had been their leader, chaldean have of the Aryas has been accepted from Tilak & Keith.

Undoubtedly, the *Panis* might have been phoenicians who brought their scientific trade system including the art of writing the accounts with a script and slowly settled in the region of the Indus although they might have entered via Kabul in pre-Aryan ages. They had made their well-settled colonies which are at the sites of *Harappa* & *Lothal* etc.

There are some similarities of these people with the Jaina religion & Philosophy. According to T. P. Bhattacharya Brahma cult had a similarity with the *Tirthankara* concept. It is a very interesting clue for the relationship. The region of Brahma extended from Puskara to Gujarat including Saurashtra and Sindh. Brahma cult dominated in Vegetarianism so is this region with Jainism which continues upto date. Purity & Hygiene were their main features, which

are the features of Śvetā-mbaras who are established mainly in these areas particularly in Gujarat.

R̥gveda & Activities of Panis

Since they had established themselves as pastoral community, Indra or Indraism after entering India wanted to take hold of this economy. *Panis* wanted business whereas Indra wanted to take away cows forcibly in which he was successful & *Panis* were compelled to quit their original place to migrate to south (Maharashtra & Karnataka), East ward, Ujjain to Magadha and later Tamilanadu. It was quite later that Mahāvira against revived this religion in well-established form.

(i) They were the dealers of *soma* (from North, West frontier region Mujavat Mount and Ghee, their natural product which slowly became essential ingredients for *Yajña*. They had huge gold which was being tried to be plundered and so may spies like Sarama were being sent to search out the hidden gold.

(ii) *Non-violence* — From the perusal of the R. V. it appears that they believed only in non-violence and India also dealt with *vala* (who was violent) and *Panis* in different manner. Ultimately *Panis* were also treated with coersion & violence and they had to quit their region. Some other deities allegorically tribes joined them and they were up-rooted.

(iii) *Intellectuals* — R. V. *Panis* as intellectuals but due to the cheating by the Aryans, they adopted concealing methods and they were declared wolves. Perhaps Indra tortured them manifold and there are the references of their weeping & crying in the R.V.

The weeping of the Versabha in the R. V. may be due to indiscriminate slaughter of the cows when India might have entered in the territory which is also alluded to in the R. V. This killing of cows might have contributed to the killing of cows in the sacrifices. So it was a conflict of killing vs. non-killing.

(iv) *Darkness activities* — Perhaps due to this looting tendency of India, the *Panis* put their stocks underground particularly the gold and Indra was trying to reach their treasures. This tendency in tradition continued till date when the Mohammedans tried to search their treasures and they befooled them

by diversions to other region to protect themselves. These dark activities are also alluded in the R. V.

Migration

It was, perhaps, from this time that the religion bifurcated in Jaina (pure) and Pāśupatas (mixed) who simultaneously moved to Maharashtra, Karnataka, Tamilnadu, Ujjain, Magadha and Nepal. They took their sacred Āgamas & mystic Āgamas with them which well lost in due course of time & revived from time to time. They carried the words like *Panam* for currency and the economic words like *Paśu* (for cow which had been still a symbol of business & not the cow only).

It was only quite later that they were accepted as devils and perhaps the satirical word Jina (II= devil) was put for them. By now they had become stronger enough to fight the tortures of Indra, of course with non-violent method.

To Conclude — Phoenicians with other tribes established themselves in Indus region; they lived peacefully with non-violent intellectual business activities. Indra uprooted them. It was the cause of the spread of their religion. Ultimately in this region, they survived & flourished profoundly even today.

*** Department of Sanskrit**

Delhi University,

Delhi.





Sādhanā of Mahāvīra as Depicted in Upadhāna Śruta

Dr. Ashok Kumar Singh*

Ācārāṅga-sūtra, the first of the eleven *aṅgas*, deals with the conduct or *ācāra*. Remarkably the term *ācāra* as used by Mahāvīra does not connote merely moral conduct, rather it is of five kinds¹ — knowledge, faith, self-discipline, austerity and spiritual exertion. Thus, it is clear that *ācāra* comprehends all the three right means of liberation, i.e., faith, knowledge as well as conduct. As *Ācārāṅga-sūtra* describes the means of obtaining liberation, it has been designated in *Ācārāṅga Niryukti* as the essence of the entire Jaina instruction.² It is divided into two *Śruta-skandhas*. It is now generally agreed that first *Śruta-skandha* is the oldest part of the Jaina canons as a whole. Second *Śruta-skandha* of *Ācārāṅga*, known as *Cūlā*, is certainly a subsequent addition. At present, first *Śruta-skandha* contains eight chapters only but the tradition holds that originally it had nine chapters. Its eighth chapter *Mahāparijñā*, now being extinct. Some scholars believe that ninth chapter *Upadhāna-śruta* is also a subsequent addition. Jacobi also held this view. To quote his words — 'The last lecture, a sort of popular ballad on the glorious sufferings of the prophet, was perhaps added in later times.'³ However valid this claim may be yet it is undoubtedly older in relation to rest of the canonical texts. This chapter may rightly be accredited to have the oldest depiction of Māhāvīra's life, that too, in a realistic and natural way without any exaggeration. Padmabhūṣaṇa Pt. Dalsukhabhai Malvania⁴, also held that *Upadhāna-śruta* presented a realistic account of Māhāvīra's life of *Sādhanā*, after initiation (to attainment of omniscience). Dr. Tatia has also expressed the similar view. 'In fact, the biography of Māhāvīra in the *Āyāro*, chapter X, which undoubtedly is the oldest and at the same time absolutely free from mythology, is an illustration of the extreme type of asceticism, adumbrated in the text''.

The description of *Upadhāna-śruta* is a testimony to the fact that

Māhāvira had already practised what he preached. It serves well to illustrate and to set a high example of true ascetic's life. We can say that description of *Upadhāna-śruta* alone is sufficient to impart respectability to the whole set of ethical doctrine of Jainas. It is a demonstration of preachings, by the preacher himself, in its ideal form. *Upadhāna-śruta*, as it stands now, contains 69 *gāthās* divided into four *Uddeśakas* (lectures). According to *Ācārāṅga Nirvyukti*⁶, the name of the four *Uddeśakas* are — *Caryā* (Ramblings), *Sejjā* (seats), *Parīṣahas* (Endurance of Hardships) and *Acigicchā* (abandonment of medication). These contain 23, 16, 14 and 17 *gāthās* respectively. However, above division is not strictly and exclusively applicable to the content of *Upadhāna-śruta*. For instance fourth *Uddeśaka*, entitled (*Acikitsā*) contains only two verses on abandonment of medication while description of hardships is found in second as well in third *Uddeśakas*.

Before, discussing the *Sādhana* of Mahāvira as depicted in *Upadhāna-śruta*, an understanding of various meanings of the term '*upadhāna*' is essential. In *Sūtrakṛtāṅga-ṭīkā*⁷, *Upadhāna* has been defined as austerity leading to liberation. In *Sthānāṅga-ṭīkā*⁸ as that through which *śruta*/knowledge respites and in *Vyavahāra Bhāṣya* as that which enriches knowledge. In Jaina *Upāṅga* text, *Aupapātika-sūtra*¹⁰ it means performance or doing. In Śīlaṅka's commentary on *Ācārāṅga* it means pillow, in *Upadeśapāda* of Haribhadra¹² *upadhi* or *Upādhi* — meaning things/implements of attachment to worldly things. In *Pravacana-sāra*¹³ and *Vidhimārgaprapā*¹⁴ it has been used as austerity performed for the reading of canonical *sūtras*. Generally the term is used for the particular austerity, observed, to attain knowledge.

Thus we can infer that the term comprehends all austerities and performances contributing to liberation. *Ācārāṅga Nirvyukti*¹⁵, also confirms this view, where it has been, classified as *Dravya* and *Bhāva*. According to *Nirvyukti*, *Dravya Upadhāna* means bed, place of residence, etc. while *Bhāva Upadhāna* is austerity and conduct. In the light of the foregoing discussion, we can say that the title of this chapter is absolutely right and comprehends the subject-matter dealt within.

About the *Sādhana* of Mahāvira, as described in this chapter, Dr. Tatia's¹⁶ observation is to the point. He likens it with *Sādhana* of Buddha. He remarks, 'although it is not possible' to have a full picture of the course of meditation followed by the *Nāyaputta*, the strands that we are able to gather

from stray references, make it plausible that it was not essentially different from one, practised and preached by Gautama Buddha so far as the way of meditation is concerned, it was not much different. Though both observed the hard austerities in their course of *Sādhanā* yet later on Buddha declared the futility of hard penances for the attainment of knowledge while Mahāvira commended them.

The specific features of his *Sādhanā*, drawing our attention are (i) His constant vigilance, (ii) His equanimity and equipoised state of mind, (iii) His indifference to external world, (iv) Practice of meditation, (v) Practice of non-violence, (vi) Abandonment of Medication, (vii) Abandonment of Bodily Care, (viii) Control of sleep, (ix) Abandonment of vitiated food, tasty food, (x) Practice of fasting and diet control, (xi) Places of residence and (xii) Endurance of Hardships.

In the first *Uddeśaka* of third chapter *Śītoṣṇiya* of *Ācārāṅga* (1. 3. 1. 11) Mahāvira preached — *apamatto parrivae* that is one should be ever vigilant. In practice also he was always vigilant and never slackened for a moment as is evident from the term '*Apamatte*' (1. 9. 2. 4) and, '*No pamāyam saim pi kuvitthā*' occurred in this *śruta* (1. 9. 4. 15). *Apramatta* (Consciousness) and *Pramatta* (Unconsciousness) are relative terms. One can never be conscious and unconscious simultaneously. When one is conscious of the self, cannot be conscious of external world and extraneous circumstances. In other words, when one is conscious of the self, he becomes unconscious of external world. That is exactly, what marked the *Sādhanā* of Mahāvira. He was always vigilant to his soul and had become totally indifferent to all things other than self.

Mahāvira remained equipoised all through his *Sādhanā*. With reference to his endurance of hardship and favourable and adverse situations the term '*Ahiyāsae sayā samio*' (*Ācā.* 1. 9. 2. 1 and 1. 9. 3. 1) and *Āvakaham bhagavam samiāsi* (*Ācā.* 1. 9. 4. 16) have been mentioned to denote that he bore all hardships with equipoised state of mind. He become absolutely calm and poised, achieving through complete self-purification, discipline of mind, body and speech.

Equipoised state of mind or equanimity is very essential for *Sādhakas*. Absence of it results in attachment and aversion, the ultimate cause of *Karma*-bondage. One whose mind is equipoised is sure, not to commit sin. This

equanimity and equality form the basis of *Sādhanā* of Mahāvīra. Mahāvīra echoed the similar spirit when he preached '*sammatta-dāsi na karei pāvam*' (*Ācā. 1. 3. 2*), i. e., the equanimous person does not commit sin.

Practice of Meditation

Indeed, the practice of meditation is the most persistent theme dominating all other descriptions, constituting the content of *Upadhāna śruta*. Dr. Tatia¹⁷ has rightly observed that ninth chapter is an illustration of the role that was assigned to *dhyāna* in the life of an ascetic. His austerities flowed from his *Jñāna*. He meditated day and night, self-restrained, mindful and concentrated.

Mahāvīra would always choose secluded places for meditation. If he did not get one, he would seclude himself from out world and get himself immersed deeply in the very depths of the innermost soul.

There is a *gāthā*¹⁸ — '*Adu porisim tiryambhittim, cakkhumā-sajja antaso jhāi*' depicting a particular mode of his meditation. It has been differently interpreted by scholars ancient as well as modern. Jinādāsa Gaṇi¹⁹, Śīlaṅka²⁰, Jacobi²¹ and Pt. Malvania²² have interpreted it as an instance of meditation while walking, while Yuvācārya Mahāprajña has interpreted it as the instance of *Trāṭaka dhyāna*. Commenting on this *gāthā* he has said that fixing the gaze on the wall has been the meditational technique of Buddhist monks also. Concentration on a point with detailed and unblinking eyes is called *Trāṭaka*. By accomplishment of this *Sādhanā* of *Trāṭaka* one can perceive all three worlds, viz., upper, upper-lower and middle. According to him Abhayadevasūri²³ also has interpreted the '*tiryagbhitti*' as the rampart or wall of a mound or the rock.

The interpretation of this *gāthā* in the light of *Trāṭaka dhyāna* is correct. It appears that fearsome appearance of Mahāvīra with eyes bulged out, did not fit with the divine charm attributed to him, later on, by the tradition. That is why; in *Cūrṇi* and *Ṭikā* it has been explained as meditation while walking.

He always meditated in complete motionless state in any posture. He used to meditate in shade in winter and in scorching sun in summer. He never allowed his meditation to be hindered.

The practice of non-violence gets precedence over all other principles that constitute the spirituality. Mahāvīra, during the course of his *Sādhanā*,

observed total non-violence. After having fully known the existence of living beings of earth-body, water-body, fire-body, air-body and mildew, seed and vegetation and mobile living beings, and after having recognised their existence and ascertained their animatedness, Mahāvira carefully, rambled about doing no violence to them. He did not commit any violence to any living beings either by himself or with the assistance of others. Mahāvira would take every care not to cause any hindrance or apprehension to any one whether birds, animals or human beings while on his way for alms (1. 9. 4. 11, 12).

Hardships

Mahāvira had to bear terrible hardships of various types caused by inhabitants, animals, insects etc. While in meditation he would be bit even by a snake or a mongoose or a dog; occasionally 'attacked' by ants which made his body bleed and frequently tormented by gad-flies, mosquitoes, bees and wasps. While meditating in a deserted hut, he would be discomforted by burglars or debauches, while meditating on the cross-roads, he would be upbraided or even hurt by villagers, equipped with lances or spears. He would often have to bear even sexual advances caused by women.

In the course of depiction of *Sādhanā*, one whole *Uddeśaka* has been devoted to hardships and adverse conditions, he has to face in Laḍha country (i. e., the districts of Tamulaka, Midnapur, Hugli and Burdawan in West Bengal) surrounded with prickly grass and hill area. The people frequently attacked him, dogs bit him. Instead of coming to his rescue, inhabitants set dogs on him. He would not brush away encroaching creatures or annoying insects either himself or make others to do so. Sometimes while entering some villages he was forcibly stopped and even hit by people with a slap or a blow or a stick or a spear. Some inhabitants would even mangle, spit, fling heaps and thus inflict hardships on him. Some would lift him up and throw him down, while in meditation some would push him out of his seat. But he had abandoned all cares of body. He was highly tolerant of his feeling of pain and anguish. Like a warrior, Mahāvira wearing the armour of total abstinence from sinful activities, not subdued by hardships and would never be disturbed and would always meditate.

Just as an elephant fighting on the battle front is not easily baffled by piercing weapons, so also Mahāvira remained completely unruffled by and triumphed over various kinds of hardships, he experienced in Laḍha area.

Endurance of Severe cold, Snow-fall and Scorching heat

At the time of initiation Mahāvīra had put only one robe and resolved that he would not cover himself even with this robe in winter²⁴. Accordingly even in the case of severe cold and in snowfall, Mahāvīra would not even think of seeking windless abode or clothes to wrap up himself with. In cold he would stand under the shed. When the night grew colder, he would come outside in the open sky and go back to the shed, alternately. He endured the pangs of cold in perfect calmness and in conformity with right conduct. In severe cold, he would boldly walk with his hands outspread and would not try avoid cold by folding arm to his shoulders.²⁵ In summer he would sit in scorching sun.

Abandonment of Medication

Mahāvīra would not approve medication for himself. Though he was free from internal diseases yet he would occasionally be afflicted by the external, i. e., injuries caused by accidents, etc. in the form of attacks by human-beings and animals or other beings. To illustrate his indifference in extreme form towards medication, the instance of cow-boy driving a wooden-nail into his ears, is given in Jaina literature. A physician 'Kharaka' had to take it out and dress his wound. The moot point, here, is that Mahāvīra never wished any one to do anything to him.

Soon after initiation, into ascetic life, Mahāvīra had vowed to lead a life of self-abnegation by abandoning all bodily care. "In accordance with that he abandoned all sorts of purgatives, emetics, unguents, bathing, shampooing or massaging or even cleaning of the teeth.

Alongwith control of diet and control of senses, control of sleep constituted the main feature of his *Sādhanā*. In accordance with his preaching — '*Munino sayā Jāgaranti*'²⁷, that is wise are always awake, he would not seek sleep for the sake of pleasure and comfort. On feeling drowsy he would stand up and keep himself wide awake. After long spells of sleeplessness, for the upkeep and maintenance of body, he would have only a nap.²⁸ After only a moment's sleep, he would be awake again and would sit in meditation with full internal watchfulness. When, sometimes, sleep tormented him too much at night he would come out of the resting place and stroll for about a *muhūrta* or so. According to *Ācārāṅga Cūṛṇi*²⁹, during the entire span of 12.5 years of his *Sādhanā* he slept only for one *Muhūrta* at Asthikagrama during which he dreamt of ten dreams. According to *Ācārāṅga*³⁰, due to disturbance created

by demi-god, while in *Kāyotsarga* Mahāvira lost alertness and slept for a *muhūrta*.

Places of Residences

Though Mahāvira would choose a secluded place³¹ for meditation yet he lived in all sorts of places, such as work-house (like potter's lodge, etc.), assembly houses, shops, factories or under a shed of straw³². He sometimes used to stay in inns, in villages and towns, sometimes in cremation grounds, in deserted houses or under the trees. What is noteworthy, is that he used to live cheerfully in these diverse lodges and his practice of meditation remained unobstructed.

Abandonment of Vitiated food, Tasty food, Practice of fasting and Dietary control

Mahāvira always refused such foods as prepared for the monks. He was devoid of any ardent longing for delicacies. He would not care whether or not his meal included cooked savoury, vegetables, whether he got cold rice, or stale bean soup, whether his meals consisted of vapid stuff like powdered gram or only grams, whether or not he got any food at all. He did not even think of any particular kind of food. Fully aware of the sinfulness, vitiating the alms that he received, he would never accept vitiated food.

As control of diet and fasting was significant part of his *Sādhanā*, he would take meals after either two or three or even five days. Mahāvira lived on three grains for eight months. He would go without water either for half a month or for whole of a month at a stretch or sometimes for over two months or as long as for six months. He would not bother about type of meal or total non-availability of meal. He would eat alms with complete control of his passions.

Beclaming all his passions, abandoning all kinds of attachments, lulling all kinds of infatuations with sound or forma always exerting himself in self-discipline, he never slackened for a moment.

Achieving through complete self-purification, discipline of mind, body and speech he became completely calm and poised. Practised with simplicity of heart. Through entire period of *Sādhanā* he remained equipoised and tranquil.

He followed without any reservation the aforementioned code of conduct and attained omniscience or *Kevala Jñāna*.

Thus we can say that this chapter has very successfully depicted his rigorous ascetic life, practice of non-violence, non-attachment, self-control and spiritual vigilance. It also gives us the glimpse of his equanimity which was maintained in all the situations, be it pangs of hunger and thirst, vagaries of heat and cold, painful bites of animals and insects and above all barbarous treatment from people.

REFERENCES

1. *Pañcavihe Āyāre Paṇṇatte, Tam Jahā — nāṇāyāre, daṃsaṇayāre, Carittayāre, Tavayāre, Viriyayārell — Sthānāṅga* 5/2/141 (Ladnun).
2. *Niryukti Saṅgraha*, p. 421.
3. *Jaina Sūtras*, Part One, Introduction, p. XL, p. VII.
4. Malvania, *Mahāvīra Carita Mīmāṃsā*, Part One, p. 104.
5. *Āyāro*, Introduction, p. VIII.
6. *Cariya, Sijjaya Parisahaya Ayarṅkiya (A) Cigicchā ya — Niryukti Saṅgraha*, p. 447.
7. *Mokṣam prati sāmīpyena Dadhatīti upadhānam — Sūtrakṛtāṅga Ṭikā*, p. 59.
8. *Upadhīyate Upastabhyate Śrutamaneneti Upadhānam — Sthānāṅga Ṭikā*, p. 174.
9. *Puṣṭim Nayati Aneneti Upadhānam - Vyavahāra Bhāṣya Ṭikā*, p. 25.
10. *Pāra-sadda-mahannaṅga*, p. 163 & Illustrated Ardhamagadhi Dictionary Vol. II, p. 297.
11. *Upa sāmīpyena dhīyate — Vyavasthāyata Ityupadhānam — Ācārāṅga-ṭikā*, p. 296.
12. *Paia-sadda mahannaṅga*, p. 163.
13. Illustrated Ardha-Māgadhi Dictionary, p. 296.
14. Dr. S. M. Jain (P. V. R. I., Varanasi)
15. *Davvuvahānani Sayane Bhavuvahānam Tavo Cārittassa — Niryukti Saṅgraha*, p. 448.
16. *Āyāro*, Introduction, p. XXIII.
17. *Ibid.*
18. *Ācārāṅga*, 1/9/1/4.

19. *Ācārāṅga Cūṛṇi*, p. 324.
20. *Ācārāṅga Tikā*, p. 314.
21. *Jaina-sūtras*, Part 1, pp. 79-80.
22. *Mahāvīra carita Mīmāṃsā*, p. 105.
23. *Bhagavati-sūtra-tīka*, pp. 543-544.
24. *No Cevimeṇa Vatthena, pihissāmi Tamasi Hemante* — *Āyāro*, p. 382.
25. *Sisiramasi....Pasarittu bahum Parakkame, no avalambiya na Kamdhamasi*, 1/9/1/22, *Ācārāṅga*.
26. *Samsōhanam ca Vamanam ca, Gayabbhanganam, Sinanam Ca Sambahanam na se Kappe, Daṁṭa - Pacchālanam Parinnae*.
27. *Ācārāṅga Sūtra* 1/3/1/1.
28. *Ibid*, 1/9/2/5-6.
29. *Sthānāṅga*, 10/103.
30. *Āyāro*, pp. 398-399.
31. *Sayanehim Vitimissehim & Je Ke Ime Agaratha* — *Ācārāṅga*, 1/9/2/65.
32. *Āvesaṇa-Sabhā-Pavāsu, Paṇiyasālāsu Egadā Vāso.*
Aduvā Paliyaṭṭhāṇesu, Palālapumjesu Egadā Vāso.
Āgamtāre Ārāmagāre, Gāme Nagare vi Egadā Vāso.
Susāṇe Sunṇagare Vā Rukkhāmūle Vi Egadā Vāso.

Ācārāṅga, 1/9/2/2-3

* Senior Lecturer,
Pārśvanātha Vidyāpīṭha





Select Vyantara Devatās in Early Indian Art and Literature

[An Abstract of the Thesis]

*Dr. Nandini Mehta**

The term '*Vyantara Devatā*' denotes a semi-divine being who attend upon a God or a Goddess or divine leaders of different religious pantheons. Both literally and sculpturally, these beings are depicted as intermediatory gods, generally, suspending in the sky, singing and laudating the great deeds of the related deities, an earthly hero or even a noble soul. They remain occasionally present with folded hands by the side of Gods in the form of a humble, devoted servant of they mostly hover above the head of a deity showering flowers or offering garlands to eulogise him. Being impressed by the splendour of the deity, some of them gather to sing the glory of God and dance delightfully with their females in honour of the deity.

Though the list of *Vyantara devatās* differs in Hindu, Buddhist and Jaina texts but some of the name are common. These are *Deva*, *Yakṣa*, *Nāga* (*Mahoraga*), *Rākṣasa*, *Gandharvas*, *Asuras*, *Garuḍa*, *Kinnara*, *Vidyādhara*, *Kumbhāṇḍa*, *Kabandha*, *Apsarā*, *Siddha*, *Sādhya*, *Pramatha* (*Gaṇa*), *Pisāca*, *Bhūta*, *Kimpuruṣa* etc. Thus we find them in good numbers but because of certain limitations, the present scholar has opted only three of them, namely, *Garuḍa*, *Vidyādhara* and *Gandharva* to discuss in detail. These semi-divine beings are studied primarily from two angles, such as, how they are described in early Indian literature and secondly, how reflected in art in accordance to their iconographic descriptions. The present study would include explanatory notes on the iconographical details including attributes in the hand of the semi-divine elements with the help of textual references. Explanations of such a nature is hardly found in the writings of scholars in the field. This study covers a period from the beginning of Indian art upto 12th century A. D. mainly, on the basis of available stone sculptures, that hail from different sites in Northern

India. Occasionally, important and unpublished bronze and terracotta specimens are also referred in order to cover certain other angles substantiate the conclusions.

The available books and articles on *Vyantara Devatās* are much less than desired. Gopinath Rao's *Element of Hindu Iconography* (1914) and the *Development of Hindu Iconography* (1956) of J. N. Banerjee are considered as pioneering works on the subject. These two books supply the basic information about the semi-divine beings but they do not give the multi-dimensional information with one should be acquainted with. Gopinath Rao does not supply any information about *Vidyādhara*s and his observations on *Gandharvas* are found to be summed up rather hurriedly in two pages. Banerjee has given important information about *Garūḍa*, *Vidyādhara* and *Gandharvas* with particular reference to their iconography but the archaeological evidences of these images are not sufficiently brought forth and the same holds good about the literary evidences to study the etymological meaning, genealogy and characteristics of these semi-divine beings. Same is the case with the works of other scholars like A. Grunwedel's *Buddhist Art in India* (1901), A. K. Maitra's article on '*Garūḍa*, The Carrier of *Viṣṇu*. In Bengal and Java, Rupam, Vol. 1, No.1 (1920), N. K. Bhattasali's *Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum* (1929), M. M. Nagar's article 'Two *Garūḍa* Images in Mathura Museum' published in the Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. XXVIII (1942), B. Bhattacharya's *The Buddhist Iconography* (1958), A. Danielou's *Hindu Polytheism* (1964), S. A. Dange's *Legends in the Mahābhārata* (1969), H. D. Smith's *A Source Book of Vaiṣṇava Iconography* (1969), *The Evolution of the Suparna Saga*. In the '*Mahābhārata*', an article of Mahesh Mehta, published in the Journal of the Oriental Institute, Baroda, Vol. 21, 1971, N. P. Joshi's articles '*Early Traditions of Brahmanical Iconography*' published in the Journal of India Museum, Vol. XXI (1973), B. C. Bhattacharya's '*The Jaina Iconography*' (1974), C. Sivaramamurti's '*Birds and Animals in Indian Sculpture*' (1974), '*Animals in Indian Sculptures*' of K. Bharatha Iyer (1977), D. C. Bhattacharya '*Iconography of Composite Images*' (1980), Nanditha Krishna's '*The Art and Iconography of Viṣṇu-Nārāyaṇa*' (1980), R. Champaka Lakshmi's '*Vaiṣṇava Iconography in the Tamil Country*' (1981), P. Pal's '*Hindu Religion and Iconography*'. According to '*Tantra-sāra*' (1981), G. C. Tripathi's '*Vaidika*

Devatā : Udbhava aur Vikāsa; 2 vols. (1981-82), Ramachandra Rao's '*Pratimā-kośa, Encyclopaedia of Indian Iconography*' 2 vol. (1988-91). The above mentioned works mainly provide information about *Garuḍa*. They do not, however, discuss *Garuḍa* covering, every aspect of it. Some of the above works casually refer information on *Gandharvas* and *Vidyādhars* but such information are either scanty or scattered. The notable work in this field has been R. S. Panchamukhi's book entitled, '*Gandharvas and Kinnaras in Indian Iconography*' (1951). It is a short monograph. In this, *Pañchamukhī* documented sufficiently the literary and the epigraphical data available on these two semi-divine beings but his study is also not to be considered as completely exhaustive one. For example, the field data by him are insufficient in number. The other major important works are '*Iconography of the Sixteen Jaina Mahavidyās*' by U.P. Shah, an article published in the Journal of the Indian Society of Oriental Art, Vol. 15 (1947), M. A. Dhaky's article '*The Gandharva Figures From Osia and Jagat*' published in the Journal of Oriental Institute, Vol. XX, No. 2 (1970), Jagadish Chandra Jain's article '*Vidyādhars in the Vasudeva Hīṇḍī*' published in the Journal of the Oriental Institute, M. S. University of Baroda, Vol. 24 (1974/75), and S. L. Nagar's '*Composite Deities in Indian Art and Literature*' (1989).

Thus we find that the independent works on *Gandharvas* and *Vidyādhars* are reasonably inadequate and insufficient for working out the true perspectives of the said semi-divine beings.

It seems, that scholar's mostly concentrated their minds exploring the various dimensions of divine being only. In their precious studies they had tried to throw light from different angles the diverse personality of deities like *Brahmā*, *Viṣṇu*, *Maheśa*, *Gaṇeśa*, *Kārttikeya* etc. and their various *Śaktis*. Same is the case of other pantheons of India. Most of these so-called *Vyantara-Devatās* could not attract the attention from the scholarly world. Though these semi-divine beings were assigned lower rank. These *Vyantara Devatās* play a very useful role in the identification of a deity. *Yakṣas* and *Nāgās*, attracted the attention of a number of scholars. Therefore, one gets valuable information about them as compare to rest of the *Vyantara-Devatās*. The information available about the other are limited and an exhaustive study, both textually and artistically have not been undertaken till date. After going through the published books and articles mentioned above one finds that many questions

regarding the semi-divine beings remain still unanswered. The pioneering works were written long back. Many new sources of Information and Archeological evidences did not come into light at that time. The present scholar feels that it is high time to review afresh about the select *Vyantara Devatās* with the latest available data so that many doubts are dispelled, many unanswered questions could be solved. This persuaded the present scholar to take up this project for her thesis. Penetrating deep into various literary materials and by surveying the archeological materials of different sites and museums, I have tried hard to bring out certain aspects of these divinities in limelight which remained either untouched by previous scholars or they had given only passing references to them. Many confusions about these divinities tried to be cleared and solved which were not taken up by the scholars earlier for years. Scholars did not care to work seriously on these semi-divine beings or whenever they tried, they came out with the confused notions of the semi-divine beings.

An effort is being made in this work, therefore to work out a comprehensive study on these select *Vyantara Devatās* to clear many such confusions. In this endeavour a thorough investigation is made of early Indian literature a detail survey of available sculptures have been made many of which have not yet been published by any scholar so far.

To work out a comprehensive account on the select *Vyantara Devatās*, the present scholar has undertaken the following chapters to work accordingly

INTRODUCTION

This includes an explanation as to why this topic has been undertaken for research. This will also sum up the various works done so far in a chronological sequence notifying their contributions on the subject.

Chapter 1 : ORIGIN AND EVOLUTION OF VYANTARA DEVATĀS

This includes Etymological meaning and the definitions of *Vyantara Devatās*, given in the ancient texts, their classifications and also views of modern scholars in the field.

Chapter 2 : GARUDA

Etymological meaning, genealogy, references in religious and secular texts, iconographical descriptions in the texts, representations in early Indian art.

Chapter 3 : VIDYĀDHARA

Etymological meaning, genealogy, reference in religious and secular texts, iconographical descriptions in the texts, representations in early Indian art.

Chapter 4 : GANDHARVA

Etymological meaning, genealogy, reference in religious and secular texts, iconographical description in the texts, representation in early Indian art.

Chapter 5 : CONCLUDING REMARKS

This would include the notable findings about the select *Vyantara Devatās*.

*** Department of History of Arts**

Banaras Hindu University

Varanasi





Śrī Hanumāna in Padmapurāṇa

*Dr. Surendra Kumar Garg**

'Padmapurāṇa' is the Jaina version of the story of the *Rāmāyaṇa*. Written in Samskr̥ta, it is quite massive in bulk. No wonder its creator, Jainācārya Raviṣeṇa is remembered as the 'Jaina Vālmiki'.

In ancient Jaina literary works, such as Vimalasūri's '*Pauma-cariya*' in Prakṛta (i.e. the unrefined dialect), and Svayambhūdeva's '*Pauma-cariu*' in Apabhramśa (i.e. cant phraseology; or the vulgar language) Rāma is known as '*Pauma*' i.e. '*Padma*' — a widely accepted name in Jaina *Purāṇas*. This is, probably, the reason why Jainācārya Raviṣeṇa named his epic '*Padmapurāṇam*' or '*Padmacaritam*', popularly known as '*Padmapurāṇa*' (can be had from Bharatiya Jnanpitha Lodhi Road, New Delhi-3) in line with the Hindū (Brahmin), *Purāṇas* such as the holy '*Viṣṇu Purāṇa*', '*Śīva Purāṇa*', etc. Svayambhūdeva's '*Pauma-cariu*' is largely based on Raviṣeṇa's '*Padmapurāṇam*'.

The story of Raviṣeṇa's '*Padmapurāṇa*' is quite interesting but widely different from the ancient Hindu lore. The leading role in it is not that of Rāma but of Lakṣmaṇa. Śambūka gets slain at the hands of Lakṣmaṇa (chapter 43/61), and again Lakṣmaṇa is credited with the killing of Kharadūṣaṇa (44/50-58). Further it is Lakṣmaṇa that assures the frightened *Vānaras* (*Vidyādharas*) of his proposed killing of the mighty Rāvaṇa by lifting the rare '*Koṭisīla*'¹ (48/213-14); and finally, none else but Lakṣmaṇa himself kills the (-demon-) king Rāvaṇa; of course, not with the usual bow & arrows, but with his '*Chakra-Ratna*' (Nārāyaṇa's sharp-teathed perpetual circular weapon which remains unseen; and appears only on certain occasions.) (76/33).

Explaining this, Dr. Ramakant Shukla writes in his doctoral thesis — "*Jainācārya Raviṣeṇa-kr̥ta 'Padmapurāṇa' aur Tulasī-kr̥ta 'Rāmacaritamānasa'*" (Vani Parishada, Vani Vihar, New Delhi - 18). "*In Padmapurāṇa, Padma* (Rāma)'s character has been depicted according to the Jaina-concept. In Jaina-

religion, *Padma* (*Rāma*), *Lakṣmaṇa* and *Rāvaṇa* has been included in *Triṣaṣṭi-śalākā-puruṣas'* i. e., 'sixty three persons holding supreme positions. *Rāma*, *Lakṣmaṇa* and *Rāvaṇa* are the '*aṣṭam*' (the eighth) *Baladeva* (*Balabhadra*), *Vasudeva* (*Nārāyaṇa*) are born the sons of a certain king, from his different queens. *Vasudeva*, along with his elder brother *Baladeva*, fights with the *Prativasudeva* (*Pratinārāyaṇa*), and ultimately kills the *Prativasudeva*
..Among the nine *Vasudevas*, *Lakṣmaṇa* and *Kṛṣṇa* are distinctively noteworthy.² (Page 33, para 2)

In '*Padmapurāṇa*', King *Daśaratha* has four queens (instead of the three, as per the common belief). *Padma* (*Rāma*) is born from *Aparājitā* (*Kauśalya*), *Lakṣmaṇa* from *Sumitrā* (*Kaikeyī*), *Bharata* from *Kekayā* and *Śatrughna* from *Suprabhā* (25/19-36). *Padma* (*Rāma* 's) mother *Aparājitā* gives her son another name '*Bala*'; and so does, *Lakṣmaṇa*'s mother *Sumitrā* to him '*Hari*'

बलनामापरं मात्र मद्यस्येति विनिर्मितम्।

सुमित्राया हरिर्नाम तनयस्य महेच्छया।³ (25/37)

Rāma-Lakṣmaṇa protect, not the hermit *Viśvāmītra*'s *Yajña* from the demons (*Tāḍakā* & *Subāhu* etc.); but king *Janaka*'s territory from the '*mlecchas*' (i. e., the barbarians or persons of low birth). King *Janaka*'s daughter *Sītā*, is not an '*ayonijā*' (not born of a mother's womb) or '*bhūmijā*' (born from the soil) lass here; but an offspring of *Janaka* & *Videha* (26/121). She has a twin-brother, too (*Ibid*), named *Bhāmaṇḍala* (26/148), who in the beginning gets separated from his parents (26/121-164); but later on assists *Rāma* in the battle against *Rāvaṇa* (54/37, 55/74-75, 58/24, 60/85, 60/102, 61/10-12, 65/2, etc.). Here, *Rāma* is not a banished son owing to the hard-heartedness of *Kaikeyī* (*Kekaya*). He rather abdicates to gear up her (*Kekayā*'s) attempt of dissuading *Bharata* from becoming a monk (in line with his father intending to do so) (31/95-163). Moreover, *Rāma* does not go to the forest, but to another town (s)गच्छाम्यहं पुरान्तरम्। (31/185)

The predominant event of '*Sītā*'s abduction' occurs here, not as a retaliation of the chopping of *Śūparṇakhā*'s nose & ears; but on account of the unfortunate incident in which her (*Chandranakhā*'s) son *Śambūka* gets beheaded (43/61-73) while evincing the sword - '*Sūryahāsa*' (43/45-49); (also see 44/27-28, 59). *Sugrīva*, the monkey-king, here gets deprived of his

wife, power & pelf, not at the hands of his elder brother Bāli/Vālī⁴; but another *Vidyādhara*, named Sāhasagati teases him as such by putting on his (Sugrīva's) disguise. Sāhasagati is dissolute, and has an evil eye on Sugrīva's beautiful better half Sutārā.⁵ (47/35)

Pavanasuta (i. e. the air-son) Hanumāna goes to Laṅkā, not all alone; but with a huge army; not by soaring in the sky, but by sitting in a 'Vimāna' (i. e. a flying device)

विमानं चारुशिखरमारूढो मारुतिस्ततः। विधाति मस्तके मेरोश्चैत्यालय इवोज्ज्वलः॥
 प्रययौ परया द्युत्या सितच्छत्रोपशोभितः। विलसद्भ्रंस सङ्काशैश्चामरैरुपजीवितः॥
 वायुशावसमैरश्वैर्जङ्गमाद्रिसमैर्गजैः। सैन्यैस्त्रिदशसङ्काशैर्जगाम परितोवृतः॥
 एवं युक्तो महाभूत्यारामादिभिरुदीक्षितः। समाक्रम्य खेमार्गमयासीत्सुनिरन्तरम्॥

(49/113-116)

Nor does he set Laṅkā afire, he just plays havoc here

सभावापीविमानानामुद्यानोत्तमसद्मनाम्। चूर्णितानां तदाघातैर्भूमयः केवलाः स्थिताः॥
 पादमार्गप्रदेशेषु ध्वस्तेशु वनवेशमसु। महारथ्यापथा जाताः शुष्कसागरसन्निभाः॥
 भग्नोत्तुङ्गापणश्रेणिः पतिताऽनेककिङ्करः। बभूव राजमार्गोऽपि महासंग्रामभूसमः॥

(53/202-204)

पादविन्यासमात्रेण भङ्क्त्वा गोपुरमुन्नतम्। द्वाराणि च तथान्यानि खमुत्पत्य ययौ मुदा।
 शक्रप्रासादसङ्काशं भवं रक्षसां विभोः। हनूमत्पादघातेन विस्तीर्णं स्तम्भसंकुलम्॥
 पतता वेश्मना तेन यन्त्रितापि महानगैः। धरणी कम्पमानीता पादवेगानुघाततः।
 भूमिसम्प्राप्तसौवर्णप्राकारं रन्ध्रगह्वरम्। वज्रचूर्णितशैलाभं जातं दाशमुखं गृहम्॥

(53/263-266)

Meghanātha (Indrajita) and Kumbhakarna (Bhānukarna) are not killed in the battle; but made war-prisoners (62/65-67, 70-71, also 73/93-94). After Lakṣmaṇa has succeeded in killing Rāvaṇa, they are set free (78/14-22, 30), and henceforth both are converted monks (78/81-84).

In '*Padmapurāṇa*', an effort seems to have been made to render some rather incredible *Rāmāyaṇa*-episodes look logical and rational. Indra, Yama etc. are, therefore, not gods here, but just superior human beings (7/18; 70-71; 100-106). Nala-Nīla do not construct a bridge on the water's greatest repository ocean. Here, Nala (only Nala) chains 'Samudra', the ruler of Velandharapura, after defeating him (54/65-66). Rāvaṇa, Kumbhakarna (Bhānukarna) etc. are not cannibals, but sublime *Vidyādharas* (demi-gods, or genies) belonging to the noble scion of '*Rākṣas*' (5/377-386). Similarly,

Sugrīva, Hanumāna etc. are not usual monkeys (i. e., apes); but superb *Vidyādharas*-descendants of the Vānara-clan (6/84-87; 107-122), who bear the marks of Vānaras-inscribed on their flags, banners, crowns, and coronets⁶ etc. in order to follow the conventional form of their ancestors (6/162-191).

'Lāngūla', here is not Hanumāna's long tail⁷ but a specific kind of weapon

(i) While fighting with Varuṇa

कञ्चिल्लाङ्गुलपाशेन विद्यारचितमूर्तिना।

आकर्षत्परमं वीरं स्नेहेन सुहृदं यथा॥ (19/54)

(ii) At the time of his battle with his mater maternal grand father King Mahendra (Ketu)

उल्कालाङ्गुलपाणिं तं दौहित्र परमोदयम्।

प्रशंसितुं समारब्धो महेन्द्रः सौम्यया गिरा॥

(iii) While joining with Lavaṇāṅkuśa' (Lava-Kuśa) -

लाङ्गुलपाणिना तेन निर्यता रामसैन्यतः। (102/171)

Hanumat-Kathā or the Tale of Hanumāna

Hanumāna, the '*Kṣetraja*' son (i. e., one of the twelve sons sanctioned by our holy books) of Kesari and '*aurasa*' (i. e. the real) son of Pavana in '*Vālmīkiya*⁸, is born here very much out of the usual conjugal copulation of mother & father (16/166-213) and not that air-god (mentally) seduced his mother.⁹

The name of his mother is Añjanā Sundarī, normally called Añjanā¹⁰ only

उत्पाद्यनुजा तेषा कीर्तिताञ्जनसुन्दरी।

त्रैलोक्यसुन्दरीरूपसन्दोहेनैव निर्मिता॥ (15/16)

and that of his father is *Pavanañjaya*

तयोर्विक्रमसम्भारो रूपशीलो गुणाम्बुधिः।

पवनञ्जयनामास्ति तनयो नयमण्डनः॥ (*Ibid*, 49)

As the fate would take it, his mother had remained discarded¹¹ by his father from the very first day of wedding for twenty-two years, for no fault of her --

तस्या विनापराधेन मया परिभवः कृतः।

द्वयत्रं विंशतिमब्दानां पाषाणसमचेतसा॥ (16/137)

Here the chin of the child (Hanumāna) does not get damaged by the powerful blow of Indra's 'Vajra',¹² the unfailing weapon.

In *Padmapurāna*, the infant wistfully jumps out of his mother's lap, while she is proceeding to step into her maternal uncle-Pratisūrya's 'Vimāna' to leave for his abode (17/345-348, 379-386)

दृष्ट्वासौ पृथुको मातुरङ्गात कौतुकसस्मितः।

उत्पत्य प्रविविक्षुः सन्नपत्तद्गिरिगह्वरे॥ (*Ibid*, 386)

The hillock; on which the babe falls, splinters into small pieces, but he himself escapes unhurt

ततः सहस्रशः खण्डैर्नीतायां सुमहास्वनम्।

शिलायां पातवेगेन ददशैवं सुखस्थितम्॥ (17/391)

As the chap had broken the hillock into pieces, the astonished Pratisūrya and other *Vidyādhara*s sing prayer in his praise as 'Śrīśaila

चूर्णितश्च ततः शैलस्तेनासौ पतनात्तदा।

श्रीशैल इति तेनासावस्माभिर्विस्मितैः स्तुतः॥ (18/122)

As the ceremonial-rites of his birth are performed in the city, named 'Hanuruha' (Pratisūrya's capital), the child comes to be known as 'Hanumāna'

पुरे हनूरुहे यस्माज्जातः संस्कारमाप्तवान्।

हनूमानिति तेनागात्रसिद्धिं स महीतले॥ (17/403)

In *Padmapurāna*, unlike the story of the '*Rāmāyaṇa*' or '*Rāmācaritamānasa*', Hanumāna is not a counsellor living under the dominion of Sugrīva, the monkey-king. He is, indeed, the ruler of an independent Island, named '*Śrīpura*' (49/1-3). When needed, Sūgrīva sends for him quite respectfully and solicits his favour

पवनञ्जयराजस्य श्रीशैलः प्रथितः सुतः।

विद्यासत्त्वप्रतापाद्यो बलोत्तुङ्गः स याच्यताम्॥

*

*

*

प्रतिपन्नैस्ततः सर्वैरेवमस्त्विति सादरैः।

मारुतेरन्तिकं दूतः श्रीभूतिः प्रहितो द्रुतम्॥ (48/247, 249)

He leaves for Kiṣkindhā looking quite resplendant and accompanied by his attendants & associates --

एवं विषमतां प्राप्तं स्वजने पावनञ्जयिः।
 किञ्चित्समत्वमाधाय किष्किन्धाभिमुरखं ययौ॥
 गच्छन्तं तं महाभाग्यं शतशो बन्धुपार्थिवाः।
 अनुजगमुः सुनासीरं यथा त्रिदश पुंगवाः॥ (49/35, 38)

There he receives a hearty welcome --

बहुभिः पूज्यमानोऽसौ विभवैस्त्रिदशोपमैः।
 विवेश नगरं सद्य सुग्रीवस्य च पुष्कलम्॥
 सुग्रीवेण प्रतीष्टश्च यथार्हं रचितादरः।
 कथितं चाखिलं तस्य पद्यनाभादिचेष्टितम्॥ (*Ibid*, 48 - 49)

In *Padmapurāna*, Hanumāna has been presented as a polygamist. In past, he had sided with Rāvaṇa in his gruesome battle against Varuṇa (19/49-61). Actually, Rāvaṇa could defeat the powerful enemy mainly because of Hanumāna valour --

‘तावत्पुत्रशतं तस्य बद्धं पवनसूनुना।’ (19/59)

No wonder, Rāvaṇa feels highly grateful, and thus, being pleased, entrusts his sister Chandranakhā's blonde daughter *Anānga-puṣpā* to him --

कैलासकम्पोऽपि समेत्य लङ्का विधाय सम्मानमतिप्रधानम्।
 महाप्रभां चन्द्रनखातनूजां ददौ समीरप्रभावाय कन्याम्॥ (*Ibid*, 101)

Nala, the king of *Kiṣkupura*, also weds his renowned daughter-*Harimālinī* to Hanumāna

तथा नलः किष्कुपुरे शरीरजां प्रसिद्धिमेवां हरिमालिनीं श्रुतिम्।
 श्रियं जयन्तीमपि रूपसम्पदा ददौ विभूतया परया हनूमते॥ (19/104)

In the same way, he gets another hundred virgins, belonging to the 'kinnar-caste', during his journey through the city, named 'kinnargita'. Thus, the noble man gradually wins the hand of over one thousand maids !

पुरे तथा किन्नरगीतसंज्ञके स लब्धवान् किन्नरकन्यकाशतम्।
 इति क्रमेणास्य बभूव योषितां परं सहस्राद्गणनं महात्मनः॥ (*Ibid*, 105)

Sugrīva's fairest daughter Padmarāgā also chooses him in preference to several other suitors, and thus the two are united in wedlock

अनुक्रमात्साथ निरीक्षमाणा मुहुर्मुहुः संहतनेत्रकान्तिः।
 सद्यः समाकृष्टविचेष्टदृष्टिर्बाला हनूमत्प्रतिमां ददर्शा॥

*

*

*

तयोर्विवाहः परया विभूत्या विनिर्मितः सङ्गतसर्वबन्धुः।

तौ दम्पती योग्यसमागमेन प्राप्तौ प्रमोदं परमं सुरूपौ॥ (Ibid, 112, 125)

Later, when Hanumāna is on his mission to search Sītā, and make Rāvaṇa (who is also him relative) realize him folly, he has to fight a gruesome battle with Laṅkā-Sundarī - the daughter of Vajrāyudha, whom Hanumāna has already slaughtered in a battle (52/29-45). She fights vigorously & valiantly. Before long, they fall victim to the arrows of 'Kāma' (i. e., Cupid), the love-god, and find themselves in each other's embrace --

उपसृत्य च तां कन्यां मृगेन्द्रसमविक्रमः।

कृत्वाङ्गे गाढमालिङ्गत् कामोरतिविमापराम्॥ (52/61)

Thus, the '*naiṣṭhikabrahmacārī*' (One observing celibacy with a religious faith), '*manmatha-mathan*'^{13 (i)} [Churner (here, breaker) of the heart of Cupid himself, by observing intact celibacy]; and '*Ūrdhva-Reta*'^{13 (ii)} (a celibate whose semen stays still up in Cosmos; who would never let fall his semen)^{13 (iii)} image of Hanumāna, an epitome of Hindu-Aryan-culture, seems to have been deliberately calculatingly tarnished in the *Padmapurāna* and other Jaina-scriptures. He looks like a mere puppet in the hands of 'Kāmadeva' (i. e., the 'god of lust' - as we roughly call him).

He has been shown ever-ready to get married, when and wherever he gets a chance, or an offer to this effect. Though he gets duly wedded and feels fully contented with Candranakhā's pretty daughter, Anaṅgapuṣpa --

अनङ्गपुष्पेति समस्तलोके गतां प्रसिद्धिं गुणराजधानीम्।

अनङ्गपुष्पायुधभूतनेत्रां लब्ध्वा स तां तोषमुदारमार॥ (19/102)

He suffer a pang of lust in his heart, the moment he looks at the mere portrait of *Padmarāga* sent by her father Sugrīva with a marriage-proposal. How very knavishly he muses ! Please mark his instant reaction --

अजात एवास्मि न यावदेनां प्राप्नोमि कन्यामिति जातचित्तः।

समीरसूनुर्विभवेन युक्तः क्षणेन सुग्रीवपुरं जगाम॥ (19/120)

"If I do not achieve this maid, my taking birth amounts to nothing. Musing so in him heart, he atonce leaves for the capital of Sugrīva's kingdom in full regalia."

Likewise, he is smitten by the beauty of Laṅkā Sundarī. Struck by the sheer arrows of her charm, he laments --

वरमस्मिन् मृधे मृत्युः पूर्यमाणस्य सायकैः।

अनया विप्रयुक्तस्य जीवितं न सुरालये॥ (52/52)

"It is fine to get killed in this battle overpowered by the arrows; but a life without her is worth-nothing even in heaven."

Commenting on this, Dr. Devadutta Rai writes in his research-work— "Hindī Hanumat-kāvya Kā Udbhava Aur Vikāsa" (Kitab Mahal, Allahabad-3) — 'The clean & pure image/appearance of (Śrī) Hanumāna projected by the first poet (i. e., Vālmīki) has been distorted by these (Jaina) poets in their enthusiasm of looking original. The Jaina poets & writers have made this lofty character suffer the worst degradation. While *Hindū* scriptures fancy him as '*naiṣṭhika brahmacāri*', '*Ūrdhva-Reta*' and '*Niṣkāma*' (disinterested) devout; Jaina-literature projects him as enjoying sexual-intercourse with eight thousand wives. (Page 18, Para 2-3)

There is however, one beauty-spot in Raviṣeṇa's account of Hanumāna; something which even Vālmīki or Tulasīdasa never bothered to highlight, e.g., his (Hanumāna's) sincere love and tender regard for his mother. He avenges the disregard & disgrace meted out to her at the hands of her father,¹⁴ when she was turned out by her in-laws.¹⁵

Hanumāna fights with his maternal uncle, and maternal grand-father during his campaign of Lānkā

मातरं शरणं प्राप्तं मम निर्वास्य यः कृती।

व्यसन प्रतिदानेन महेन्द्रं किंनु तं भजेत्॥

* * *

अर्काभिस्यन्दनः सोऽपि हरिहारो धनुर्धरः।

शूराणामग्रणी दीप्तो मातुः पितरमभ्यगात्॥

तयोरभूमहत्संख्यं क्रकचासिशिलीमुखैः।

परस्परकृताघातं वायुवश्याब्दयोरिव॥ (50/12, 26-27)

After a fierce battle, Hanumāna succeeds in capturing both of them (50/24, 35-36). Thus, the proud king Mahendra is compelled to go and be pardon of him innocent daughter-Añjanā-Sundarī --

गत्वा महेन्द्रकेतुश्च तनयां नयकोविदः।

प्रसन्नकीर्तिना सार्द्धं वत्सलः समपूजयत्॥ (*Ibid*, 51)

Thus, the worthy son succeeds in restoring the lost honour & dignity, and even innocence of his mother --

मातापितृसमायोगं सोदरस्य च दर्शनम्।

अञ्जनासुन्दरी प्राप्य जगाम परमां धृतिम्॥ (Ibid, 52)

Leaving aside a few of his weaknesses, Hanumāna in '*Padma-purāna*' is a valiant, young, brave soul; and a champion of justice & equity. He receives information about the killings of his brother-in-law, Śambūka; and father-in-law, Kharadūṣaṇa¹⁶ (Candranakhā's husband).

Hanumāna's wife Anaṅgapuṣpa/Anaṅgakusuma is shocked & weeps bitterly to here the news of the terrible end of her brother & father as well (49/11-19). In such moments, how should Hanumāna react ? Shall he jump and prepare his army to launch an attack on Rāma-Lakṣmaṇa, to wipe out the tears of his beloved ? He pauses and then takes a well-considered decision in favour of Rāma (49/35), who, in his view, is more sinned against than sinning." He consoles the heart of Rāma in his hour of grief --

गत्वा प्रबोधयिष्यामि त्रिकूटाधिपतिं बुधम्।

तव पत्नीं महाबाहो त्वरावानानयाम्यहम्॥ (49/96)

'O Long-armed Rāma! I'll go and admonish Rāvaṇa, the king of Laṅkā. As he is wise, he shall act upon my advice. I'll immediately return with your wife.'

Instilling hope in Rāma, Hanumāna further assures him that he (Rāma) will soon certainly see the lotus face of Sītā --

सीताया वदनाम्भोजं प्रसन्नेन्दुमिवोदितम्।

सन्देहेन विनिर्मुक्तं शीघ्रं पश्चसि राघव॥ (Ibid, 97)

And what greater example can we cite as an evidence of Hanumāna's love of justice than quoting the most thrilling moment when he shuns even his Lord Rāma, and joins with Lavaṅāṅkuṣa (i. e., Lava-Kuṣa), the two brave little sons of the bereaved Sītā --

लाङ्गूलपाणिनातेन निर्यता रामसैन्यतः।

प्रभामण्डलवीरस्य चित्तमानन्द वत्कृतम्॥ (102/171)

It pleases most the heart of Bhāmaṅḍala, Sītā's brother.

The occasion of Hanumāna's meeting with Vibhiṣaṇa before '*Sītā-Darśana*' in Laṅkā as per the lore of *Rāmācaritamānasa* -- *Sundara-kāṇḍa* (5-7) is found neither in Vālmikiya nor in Srī Rāmaśramaṇa's '*Adhyātma Rāmāyaṇa*' (to which Tulasīdāsa is highly indebted for sharing his (ideas).

Only we have a casual hint of this episode in the '*Ānanda Rāmāyaṇa*' wherein Hanumāna, while on his mission of searching Sītā, has a glimpse of Vibhīṣaṇa, engaged in his chanting of the name of Rāma

दृष्ट्वा विभीषणं समकीर्तने हृष्टमानसम्।

(*Ānanda Rāmāyaṇa, Sārakāṇḍam, 9/24*)

However, we have a full-fledged description of the 'Hanumāna-Vibhīṣaṇa-Meet' in the *Padmapurāṇa*. Hanumāna first stays at Vibhī-ṣaṇa's, who is also his relative, and receives a hearty welcome --

द्वारे च रचिताभ्यर्चे विभीषणनिकेतनम्।

विवेश योग्यमेतेन सम्मानं च समाहृतः॥ (53/2)

He has a well-considered counsel with Vibhīṣaṇa, and apprises him of Rāvaṇa's wrong-doings. Both condemn Rāvaṇa for this. (53/3- 10).

Sītā takes her meal after eleven days, as she has now received some message from her husband's side. (53/12, 131-141)

Thus, we see that the character of Hanumāna in '*Padma-purāṇa*' is not that of an idealized deity; but of a superior human being - brave, just, loyal and of course, having some human weaknesses and foibles, too.

REFERENCES

1. When asked about the cause of his death, Anantavīrya Yogīndra had told Rāvaṇa in past that a person lifting the virtuous and rare '*Nīrvāṇa Śīla*', adored by the gods, would be instrumental in causing his (Rāvaṇa's) death
अनन्तवीर्ययोगीन्द्रं संप्रणम्य पुरा मुदा।
रावणेनात्मनो मृत्युं परिपृष्टः समादिशत्॥
यो निर्वाणशिलां पुण्यामतुलामर्चितां सुरैः।
समुद्यतां स ते मृत्योः कारणत्वं गमिष्यति॥ (48/185-186)
2. (i) The same philosophy has been mentioned in '*Rāmāyaṇa-Mīmāṃsā*', by Svāmī Karapātrijī; para-3, page 149.
(ii) For the same attitude in *Padma-purāṇa* itself, please see 73/ 98-102.
3. The thrilled *Vidyādhara*-kings also recognize Rāma & Lakṣmaṇa as the eighth *Balabhadra* (i. e., '*Bala*') and *Nārāyaṇa* (i. e. '*Hari*') respectively. (76/1-6)
4. As a matter of fact, in *Padmapurāṇa*, Bāli bears no grudge against his

younger brother Sugrīva. In fact, he embraces monkhood- handing over all his stately positions to Sugrīva --

इत्युक्त्वा निर्गतो गेहाद् बभूव च निरम्बरः।

पार्श्वे गगनचन्द्रस्य गुरोर्गुणगरीयसः॥ (9/90)

5. King Cakrāṅka's son Sāhasagati was indeed a former suitor to king Agniśikhā's lovely daughter-Sutārā. But, as he was a wicked fellow, and as per a prophecy was doomed to have a short span of life, her (Sutārā's) father preferred Sugrīva to him. Still, the knave endeavoured to associate with his' fiance. (10/2-18)

6. Śrī Hanumāna is bearing the 'mark of Vānara' in his coronet

(i) while approaching Sītā --

किरीटे वानरं बिभ्रदामोदाहृतषट्पदः। (53/44)

(ii) When he has finished his feat of destroying Laṅka --

कपिमौलिभृतामीशं श्रुत्वैवविक्रमम्। (53/267)

7. In various other books, pertaining to the story of Rāma, we have an indication of 'Lāṅgūla', or 'laṅgūra', or ever 'loom' as a long tail of Hanumāna and other Vānaras --

(a) In 'Vālmiki-Rāmāyaṇa

(i) लाङ्गूलं च समाविद्धं... .. (*Sundara-kāṇḍa*, 1/61)

(ii) लाङ्गूलचक्रो हनुमाञ्शुक्लदंष्ट्रोऽनिलात्मजः। (*Ibid*, 1/62)

(iii) क्षितावाविद्धय लाङ्गूलं ननाद च महाध्वनिम्। (*Ibid*, 42/30)

(iv) वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः। (*Ibid*, 53/6)

(v) भिन्नलाङ्गूलहस्तोरुपादाङ्गुलिरोधरैः। (*Yuddhakāṇḍa*, 74/8)

(b) In *Ānanda Rāmāyaṇa*

दूतानाज्ञापयामास छेदनीयं तु लाङ्गुलम्। (*Sārakāṇḍama*, 9/177)

(c) In '*Rāmacaritamānasa*'

कपि लंगूर बिपुल नभ छाए। मनहु इंद्रधनु उए सुहाए॥

(*Laṅkā-kāṇḍa*, 87/5)

(d) In '*Kavitāvalī*'

(i) बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,

खोरि खोरि घाउ आउ बाँधत लंगूर हैं। (*Sundara-kāṇḍa*, 3/1)

(ii) जारि बारि, कै बिधूम बारिधि बुताइ लूम,

नाइ माषोपगनि, भो ठाढ़ो कर जोरि कै। (*Ibid*, 26/1)

(iii) आयो हनुमान प्रानहेतु, अंकमाल देत,
लेत पग धूरि एक, चूमत लँगूल है। (*Ibid*, 30/1)

(iv) लूम लपेटि, आकास निहारि कै हॉकि हठी हनुमान चलाए।
(*Lankā Kāṇḍa*, 37/3)

(v) जहाँ तहाँ पटके लँगूर फेरि फेरि कै। (*Ibid*, 42/4)

(vi) लँगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम,जय!' उच्चर। (*Ibid*, 47/5)

(e) बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि,
तुलसीकी बाँह पर लामी लूम फेरिये॥ '*Hanumāna-bāhuka*' (34/78)

8. (i) स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमतिक्रमः।
मारुतस्यौरसः पुत्रास्तेजसा चापि तत्समः॥ (*Kiṣkindhākāṇḍa*, 66/29-1/2)

(ii) मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान नाम वानरः। (1/17/16)

9. मनसास्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि।
वीर्यवान् बुद्धिसम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति॥ (*Vālmīkiya*, 4/66/18)

10. (a) In '*Vālmīkiya*' also, her name is (only) Añjanā --
सूर्यदत्तवरस्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः।

यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता॥
तस्य भार्या बभूवेष्टा अञ्जनेति परिश्रुता।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम्॥ (7, 35/19-20)

(b) While Gosvāmī Tulasīdāsa call her Añjanī
जयत्यंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत विधु विबुध-कुल-कैरवानन्दकारी।
केसरी-चारु-लोचन-चकोरक-सुखद, लोकगन, शोक-संतापहारी॥

(*Vinayapatrikā*, 25/1)

11. The learned astrologers calculated the time of their marriage as being after three days. As Pavanañjai had heard enough about her tentalizing beauty, he couldn't resist the temptation of having a pre-glimpse of his fiance-Añjanā Sundarī. He went up the roof of her palace, alongwith his secret-partner Prahāsita (15/91-139) without anyone's knowing it. As he was enjoying the very sight of his sweet heart, one of her hand-maids came and began to praise another suitor, Vidyutprabha. During the course of her comments, she (the hand-maid) even spoke ill of Pavanañjai --

वसन्तमालिके भेदो वायोर्विद्युत्प्रमस्य च।

स गतो जगति ख्यातिं गोष्पदस्याम्बुधेश्च यः॥

* * *

वरं विद्युत्प्रभेणामा क्षणोऽपि सुखकारणम् ।

सत्रानन्तोऽपि नान्येन कालः क्षुद्रासुधारिणा ॥ (15/160, 162)

No wonder, Pavanañjai was outrageous. He even presumed that Añjanā was also having a soft corner for Vidyutprabha, that's why she neither objected to her hand-maid's criticism of Pavanañjai, nor did she remain disinterested in it --

नूनमस्याः प्रियोऽसौ ना कन्याया येन पार्श्वगाम ।

मज्जुगुप्यनसंसक्तां न मनागप्यवीवदत् ॥ (*Ibid*, 176)

This manufactured a great misunderstanding, hence Pavanañjai refused to marry her. But, on pressure from above, he agreed; deciding in his heart that he would retaliate his insult by not sharing the sexual-pleasure with her after marriage --

समुह्य शातयाम्येनां दुःखेनासङ्गजन्मना ।

येनान्यतोऽपि नैवेषा प्राप्नोति पुरुषात्सुखम् ॥ (*Ibid*, 217)

12. ततो गिरौ पपातैष इन्द्रवज्राभिताडितः ।

पतमानस्य चैतस्य वामा हनुरभज्यत ॥ (*Vālmīkiya*, 7/35/47)

13. (i, ii) जयति बिहगेस-बलबुद्धि-बेगाति-मद-मथन, मनमथ-मथन, उध्वरिता ।

(*Vinaya-Patrikā*, 29/3)

(iii) '*Vinaya Pīyūṣa*', Vol. 1, Part II, p. 86.

(Publishers 'Piyusha Karyalaya', Shri Kaṛuna-nidhana-kunja, Rinamochanaghata, Ayodhya 224/23, (Faizabad) U. P.; written by Mahatmā Anjaninandanasharana, the eminent scholar of Rāma-Kathā literature, and writer of the universally acclaimed '*Mānasa-Pīyūṣa*', Gita Press, Gorakhpur - 273 005, U. P.

१४. निर्वास्यतां पुरादस्मादरं सा पापकारिणी ।

यस्या मे चरितं श्रुत्वा वज्रेणेवाहते श्रुती ॥ (17/39)

15. Since their marriage, Pavanañjai ever remained harsh & cruel towards his wife Añjanā. He even abused & insulted her (16/88). He was so furious that he did not even wish to see her face (16/96). The poor Añjanā pleaded for his favour, but always met with reprimand. Pavananjai remained quite a look from her.

But, once during the course of his journey to join with Rāvaṇa in his battle against Varuṇa, (16/57-81), Pavanañjai happens to see a female ruddy-

goose (i. e., Cakavi), fluttering for the company of its partner. This reminded him of the pitiable condition of Añjanā without him. His heart was filled with remorse, and thus with sympathy for his beloved (16/117-126). He atonce returns with his partner (leaving the army without knowing it all). He secretly approaches Añjanā and thus secretly passes several nights with her --

तयोरज्ञातयोरेवं यथोचितलिधायिनोः।

अतीयाय निशानेका क्षणाद्दर्शनभीतयोः॥ (16/212)

Again, while leaving, he advises her not to disclose his arrival to anyone; and that he would himself do so after coming back from the mission (16/231-237).

It takes Pavanañjai a considerably longer time in his mission. Mean while, Añjanā becomes pregnant, and this fact does not remain hidden any longer to her mother-in-law, Ketumatī (17/1-5). On being suspected about her chastity, Añjanā (though instructed not to do so) tells her mother-in-law everything truly & clearly (*Ibid*). But, as the luck would have it, she not least believe her clarification of her chastity; and thus very cruelly turned Añjanā out of her palace

आर्यक्रूरशु नीत्वेमां महेन्द्रपुरगोचरम्।

यानेन सहितां सख्या निक्षिप्येहि निरन्तरम्॥ (17/13)

16. Unlike the story of the '*Rāmāyaṇa*' and '*Rāmacaritamānasa*', in *Padmapurāṇa*, Kharadūṣaṇa is neither Rāvaṇa's brother, nor are they two characters. Here, Kharadūṣaṇa is only one person. He abdicates Rāvaṇa's beautiful sister Candranakhā (Śūrpanakhā) (9/22-25). Though in the beginning Rāvaṇa is ready to attack on him, he marries his sister with Kharadūṣaṇa on his wife Mandodari's con-viction (9/31-39). Thus, in *Padmapurāṇa*, Kharadūṣaṇa is not Rāvaṇa's brother, but his brother-in-law.

* Lecturer in English

Lala Lajapat Rai Inter College

Thanabhavam, Muzaffar Nagar (U. P.)

श्रमण

अक्टूबर-दिसम्बर १९९४ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४१



transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to

Nuchem PLASTICS LTD.

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited Printed and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005